

॥ श्री हरिः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

[१]

अर्जुन उवाच

कहो केशव ! क्या करूँ ?

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥६॥
(श्री भग० गी० ३८० १, २ स्तो०)

दृष्टव्य

अर्जुन बोल्यो प्रभो ! आपुने ज्ञान तुनायो ।
यही प्रशंसा करी ज्ञानको श्रेष्ठ बतायो ॥
केशव ! हे यदि ज्ञान श्रेष्ठ क्यों करत बताओ ।
उत्तम ज्ञान महान, कर्म में नहीं फैलाओ ॥
ज्ञानवान बनि जगत में, मैं तिरक विचरन करूँ ।
करूँ जनार्दन करत क्यों, क्यों रतमें मारूँ मरूँ ॥

❧ धनुज कहते सगे—हे जनार्दन ! यदि कर्मों की प्रशंसा बुद्धि
(ज्ञान) को ही साथ देखे मानते हैं, तो फिर हे केशव ! मुझे घोर

जीव और ब्रह्म, मुमुक्षु और ज्ञानी सिद्ध, गिष्य और गुरु, नर और नारायण तथा भक्त और भगवान्, एक वृक्ष के दो पक्षी हैं। अन्तर केवल इतना ही है, कि नर संशय युक्त है और नारायण संशय रहित है। नर जिज्ञासु है नारायण उसकी जिज्ञासा को शांत करने वाले हैं, नर अपूर्ण है नारायण परिपूर्ण हैं। परन्तु दोनों में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। एक साथ खाते पीते हैं, चलते बैठते हैं। साथ-साथ तपस्या करते हैं। उन्हें कोई भी एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकता। दोनों को पृथक् सम्बोधन भी नहीं किया जाता। सहोदर जो ठहरे। दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी भेद रहित हैं। भेदवादियों को भेद से प्रतीत होते हैं अभेदवादियों को अभेद से। कोई भेदाभेद के चक्कर में न पड़ कर उन्हें अचिन्त्य कहते हैं। दोनों का जो सम्वाद है, वह भंगल मग्न है। नारायण कहते हैं—तुम नर ! ऐसा जानो कि जीवन में नम्रता लाना, गुरुओं के सम्मुख प्रणिपात करना, उनसे प्रश्न करना, और उनकी सेवा सुश्रूषा करना ये ही ज्ञान प्राप्ति के सरल सुगम साधन हैं। बिना नम्रता के, बिना प्रणिपात किये, बिना प्रपन्न बने कोई ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी ही नहीं बन सकता। इसलिये जीवन में सरलता, शुचिता नम्रता लाओ। विनम्र होकर गुरुजनों से जिज्ञासु भाव से प्रश्न करो और अहंकार को छोड़कर उनकी सब प्रकार से सेवा करो। इससे हीगा थया, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे जिससे

कर्मों में बंधों निमुक्त करते हैं ? ॥१॥

घाप इन पुत्र मित्त से बचनों द्वारा मेरी बुद्धि को विमोहित-नी बना रहे है। हमनिसे घाप निमित्त एक ही बात कहिये। जिसके द्वारा मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूँ ॥२॥

तुम इस संसार बन्धन से विमुक्त बन जाओगे। तुम्हारी प्रहंसा भमता झूट जायगी। तुम कतुह्व दोष से रहित बन जाओगे। इसलिये तुम्हारे हृदय में जो भी संका हो, उसे बिना किं सकोच के कह दो। उसे मुझसे श्रद्धा भक्ति पूर्वक पूछ लो।

गुरुदेव का ऐसा आश्वासन पाकर संशय और मोह में पनपनाने लगे। सोलता है (अर्जुन-उवाच) वह अभिमान वैषीभूत होकर नहीं पृच्छता। अत्यन्त विनीत भाव से सुद्धा सम्बोधनों से युक्त वाणी बोलता है। अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और प्यार में बार-बार सम्बोधन किया जाता है। भगवान् ने पीछे कहा—तेरा अधिकार कर्म करने में ही है। फिर आगे कह दिया—देखो, भैया! ये कर्म में रत पुरुष बड़े कुवण-लोगों से चालची-होते हैं। क्योंकि बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म बहुत ही निम्नस्तर का साधन है। इससे अर्जुन समझ न सके कि भगवान् का अभिप्राय क्या है। या तो वे मुझे बहुत ही निम्न कोटि का साधक मानते हैं, इसीलिये 'तेरा' पर जोर देकर कहते हैं—'भैया! तेरा तो अधिकार कर्म करने में ही है। उसके फल में तेरा अधिकार नहीं, इसलिये निरन्तर कर्म करता जा।' फिर एक स्थान पर कहते हैं—अरे कुटिया के चारों ओर गङ्गा जी का जल भर जाने पर साधक फिर कुआ के पास नहीं जात, उसके चारों ओर जल ही जल भर रहा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को कर्म की अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ तेरा अधिकार नहीं कहा। इसलिये प्रतीत होता है, मैं तो कर्म का अधिकारी हूँ, मुझसे जो श्रेष्ठ साधक होंगे, वे ज्ञान के अधिकारी होंगे। इसलिए जिज्ञासु को शंका हो गयी। उसी शंका के निवारणार्थ अर्जुन ने प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने सांख्ययोग अर्थात्

ज्ञान निष्ठा की प्रशंसा की और स्थितप्रज्ञ-जो प्रज्ञा-बुद्धियोग-ज्ञाननिष्ठा में स्थिर रहे उसके लक्षण बताकर अंत में कह दिया—“अर्जुन ! जो मैंने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, ऐसी स्थिति जिसकी हो गयी है, वही ब्राह्मी स्थिति वाला जानो महापुरुष है। इस स्थिति को जिसने भी प्राप्त कर लिया है, वह कभी भी मोह रूपी पंक में नहीं फँस सकता। पहिली अवस्था में, युवावस्था में, या बुद्धावस्था में प्रयत्न करने पर भी ऐसी स्थिति प्राप्त न हुई हो और मृत्यु के समय-अन्तकाल में ही सही—एक क्षण को भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय, तो मुमुक्षु ब्रह्मरूप निर्वाण स्थिति को प्राप्त हो जाता है। ऐसी इस सांख्य योग-ज्ञान योग-की महिमा है।”

इस पर अर्जुन ने यही निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि योग ही भगवान् के मत में सर्वश्रेष्ठ साधन है, और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है किन्तु इसके पहिले भगवान् ही अपने श्रोमुख से कह चुके हैं कि “हे भारत ! तू युद्ध कर” फिर कहा है—तुम जो युद्ध क्षेत्र में अपने सगे सम्बन्धियों को देखकर विचलित हो रहे हो—थर थर काँप रहे हो—ऐसा तुम्हें नहीं करना चाहिये। क्योंकि युद्ध करना तो तुम्हारा स्वधर्म है। स्वधर्म का परित्याग पाप है, क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर-कल्याण का मार्ग—दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिये तुम स्वधर्म का पालन करो-युद्ध करो-ऐसे धर्म को तो बड़े भाग्य-शाली सुखी क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। अन्य साधनों में तो स्वर्ग द्वार कपाट, पाटन उद्घाटन-के लिये साधन करने पड़ते हैं, किन्तु क्षत्रिय के इस महान परम-धर्म से तो स्वर्ग के द्वार अपने आप खुले हुए मिलते हैं, इससे तुम सब कुछ छोड़कर युद्ध कर्म को ही करो।” तुम युद्ध करने दृढ़ निश्चय कर लो। इसमें

विचार करने की आवश्यकता नहीं। तुम युद्ध के लिये तैयार तो हो जाओ, तुम जो भाई वन्धुओं के बंध से पाप लगने की आशंका करते हो, यह उचित नहीं। तुमको पाप लगेगा ही नहीं।" इस प्रकार भगवान् ने पहिले युद्ध रूपी कर्म करने पर अत्यधिक बल दिया। इस पर अर्जुन की बुद्धि विमोहित बन गयी। उन्हें यह आशंका हुई कि भगवान् का तात्पर्य क्या है, या तो कर्म योग और ज्ञान योग के साधक पृथक्-पृथक् होते हैं, भगवान् ने मुझे निष्काम कर्म योग को ही अधिकारी समझा होगा इसीलिये बारम्बार मुझे कर्म करने को प्रेरित करते हैं। जब यही बात है, तो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने का—उसको प्रशंसा करने का—क्या कारण है। यह कहो कि भगवान् ने दोनों मार्ग बता दिये और मुझे स्वतन्त्र छोड़ दिया कि इनमें से जो तुम्हें अच्छा लगे चुन लो। तो मैंने तो युद्ध त्याग का—संन्यास का—मार्ग पहिले ही चुन लिया था। मैंने धर्म शस्त्र त्याग ही दिये थे। भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करने का निश्चय कर ही लिया था, किन्तु भगवान् ने इस पर मेरी बड़ी भारी खिन्नी उड़ाई। मेरे कार्य को अनार्यजुष्ट, अस्वर्गकर, अकीर्तिकर बताया। भगवान् मुझसे कराना क्या चाहते हैं। युद्ध भूमि न होती वैसे मुझे संयमनाते तो ठीक था, कि यह योग मार्ग है, यह भक्ति मार्ग है, यह ध्यान मार्ग है, यह ज्ञान मार्ग है, युद्ध को तैयारियाँ हो रही हैं सब धर्म शस्त्रों से सुसज्जित आसने सामने खड़े हैं और भगवान् ज्ञान मार्ग—संन्यास धर्म—की प्रशंसा कर रहे हैं यह तो यज्ञा जो की गेल में सदा के गीतों के समान है। भगवान् मेरे लिये जो एक निश्चित मार्ग उचित समझते हैं उसी का मुझे उपदेश देना चाहिये। यही सोचकर अर्जुन श्री भगवान् से पूछने लगे—“हे प्रभो! संसार में जितने भी

जन हैं, वे आपसे अपनी अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करते हैं। जिसे जो भी वस्तु चाहिये सब आपसे ही मांगते हैं। इसीलिये आप 'जनार्दन' कहलाते हैं। मुझे भी कुछ शंका है, उसे आपके अतिरिक्त किससे पूछूँ, सो हे जनार्दन ! यह बताइये कि आपके कथनानुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग-ज्ञान-ही श्रेष्ठ है तो हे केशव ! नाश करने वाले केशव ! मुझे युद्ध-रूपी-घोर वीरत्व कार्य में प्रेरित क्यों कर रहे हैं ? क्यों बार-बार युद्ध करो, युद्ध करो की रटन लगा रहे है। यह तो आप मिली जुली सी बातें कर रहे हैं।

यह जो रामाय स्वस्ति रावणायस्वस्ति-राम का भी कल्याण हो, रावण का भी कल्याण हो-वाली उक्ति को आप चरिताव कर रहे हैं, कृपा करके इसे छोड़िये। मुझसे आपका कोई संकोच तो है नहीं। आपको किसी का भय भी नहीं फिर आप ऐसी गज्जा जयुनी-मिली जुली-जो बात कह कर मुझे टग बगो रहे हैं ? मेरा बुद्धि को मोह-से मे क्यों डाल रहे हैं। यद्यपि मैं यह भली भाँति जानता हूँ, आप मुझे जान बूझ कर कभी भी मोह में न डालेंगे, और सर्वज्ञ होने से आप से भूल होना भी असम्भव है। अतः दृष्टि मेरी ही होगी। इसलिये सशय वाली बात छोड़िये। मिली जुली बात मत बताइये। जिससे मेरा कल्याण हो, मुझे श्रेय की प्राप्ति हो पाय, ऐसा एक ही उपाय मुझे निश्चित रूप से बता देने की कृपा करें। मैं तो आपका अनुरक्त भक्त हूँ, विशाल बुद्धि भी नहीं है। अतः पुलासा करके-स्पष्ट शब्दों में मुझे मेरे कर्तव्य का बोध करा दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! जब अर्जुन ने अत्यन्त करुणा भरे शब्दों में अपनी मानसिक व्याथा बताया और अपनी निष्ठा के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा की तब भगवान् ने विस्तार पूर्वक जो

इस विषय में कहा, उसे मैं आप लोगों को आगे बताऊँगा, आधा है आप मेरे कथन को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

कवहूँ मोहूँ नाय ! ज्ञान अति श्रेष्ठ बतावै ।
करै प्रशंसा करम युद्ध मोतै करवावै ॥
कहै सकाम अकाम करै घपलो दोउनि में ।
चकरायै मम बुद्धि मोह होयै मम मन में ॥
एक बात निरिचत करी, ज्ञान पन्थ धारन कल ॥
जामै हो कल्याण मम, कहो युद्ध केराव ! कल ॥



कर्म योग और ज्ञानयोग दो निष्ठायें हैं

[२]

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैकम्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥६७॥
(श्री भग० गी० ३ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

बोले श्री भगवान्—न मैंने 'घपलो' कियो ।
'दोऊ दये' मिलाय ध्यान तैने नहिँ दीयो ॥
है निष्ठा है लोक साहिँ मैंने बतलाई ।
फिर तैं दोऊन कहैं तोइ न्यारी समुझाई ॥
सांख्ययोग की एक है, ज्ञानी नित जामें रहैं ।
कर्म योग है दूसरी, कर्म योग बाहूँ कहैं ॥
संसार में दुःख का कारण कर्म है । कर्म करने से उनके फल

श्री भगवान् न कहा—देखो, मया ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पूर्व में बतायी गयी हैं । सांख्य वालों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्म योग से हैं ॥३॥
कर्मों के न करने से ही कोई मनुष्य निष्कामता की प्राप्ति नहीं हो

मिलेंगे। फल संचित होते जायेंगे। उनसे नाना योनियों में जन्म मिलेगा। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है। संचित कर्मों में से एक जन्म के जो भोग हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। 'उसका नाम भाग्य भी है, वे दिलायी नहीं देते अतः अदृष्ट, भी कहलाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग किये नाश ही नहीं होता। कर्म करने पर जो नई-नई वासनायें-मोमेंछायें उठती हैं उनसे क्रियमाण कर्मों का निर्माण होता रहता है। अतः संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों की शृंखला ऐसी सुट्ट है, कि इससे छुटकारा नहीं मिलता है। बन्धन बढ़ता ही जाता है। इसी का नाम भवरोग है संसार बंधन है, मोह का जाल है। किसी प्रकार यह मोह का जाल टूट जाय। भवरोग मिट जाय संसार बंधन छिन-भिन हो जाय, तो सब दुःख दूर हो जायें, समस्त विन्तायें अशान्ति मिटकर प्राणी परमसुखी बनकर शान्ति लाभ करे। अहंता ममता-मोह ही हमें अधिकाधिक अशान्ति और दुखी बनाता है। इस मोह का क्षय हो जाय, नाश हो जाय, उसी स्थिति का नाम मोक्ष है। प्राणीमोक्ष बाह्य है। जीव का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। जीव के समस्त प्रयत्न मोक्ष के लिये ही हैं। बन्धन का कारण कर्म ही है। परन्तु बिना कर्म किये प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। तब तो यह बड़ी भारी विवशता है। कर्म के बिना प्राणी क्षण भर भी रह नहीं सकता और बन्धन का कारण कर्म ही है। तब मोक्ष कैसे प्राप्त हो। यदि कर्म शुक्ति पूर्वक किये जायें तो कर्मों को करते हुए उनके बन्धनों से बचा जा सकता है। जो ऐसी युक्ति बताते हैं जो कर्मों का शासन करते हैं उन्हें शास्त्र कहते हैं।

सकता और न कर्मों के त्याग मात्र से ही कोई विद्धि को प्राप्त हो सकता है ॥४॥

इसलिये कौन-सा कार्य करने योग्य है, कौन-सा कार्य नहीं करने योग्य है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है।

अब शास्त्र किसे कहते हैं ? यह प्रश्न उठता है। शास्त्र उसे कहते हैं, जो बिना किसी दूसरे की सहायता के हमें मोक्ष का सीधा मार्ग बता दे। जो मोक्ष का सीधा मार्ग न बता सके वह शास्त्र नहीं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के ग्रंथ हमें मोक्ष का मार्ग नहीं बताते वे यही बताते हैं, कि अमुक-अमुक पदार्थों के मिश्रण से अमुक-अमुक उपयोगी भौतिक वस्तु बन जायगी, अतः वे भौतिक ग्रंथ हैं। मोक्ष प्राप्ति कराने वाले शास्त्र नहीं।

जैसे आयुर्वेद है, वह शास्त्र है, जब तक हमने आयुर्वेद के ग्रंथ नहीं देखे थे, तब तक हम यही समझते थे कि आयुर्वेद ग्रंथों में रोगों के निदान और उनके निवारणार्थ सोठ, मिरच, पीपल, हरड़ बहेड़ा, आमला आदि-आदि औषधियों का विवरण होगा। किन्तु चरक आदि मुनियों की संहितायें देखीं तो पता चला यह तो मुक्ति तक पहुँचाने का शासन करने वाला शास्त्र है। उनका कहना है, धर्म, धर्म्य, काम और मोक्ष का सूत्र कारण है आरोग्य-आयु का सदुपयोग। वे आरोग्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना चाहते हैं। वात्स्यायन आदि महर्षि कहते हैं, मोक्ष काम के द्वारा प्राप्त हो सकती है। जैमिनी आदि महर्षि कहते हैं मोक्ष धर्म के द्वारा प्राप्त हो सकती है, पाणिनीय पतंजलि आदि महर्षि कहते हैं, मोक्ष शब्द के सम्पक् प्रयोग—से व्याकरण से—प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ऋषियों ने मोक्ष प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं। कर्म करे बिना तो प्राणी रह नहीं सकता और कर्म ही संसार में जकड़ता है अतः युक्ति से—योग से—सावधान होकर—हाथ पाँव को बचाकर—कर्मों को ऐसी कुशलता से करे कि न साँप मरे न लाठी टूटे। इसी का नाम साधन है।

योग है। जैसे किसी को पुराना अजीर्ण रोग है। और अजीर्ण में भोजन को विपवत् बताया है। उसका उपाय लंघन है। अर्थात् भोजन न करना। पुराना अजीर्ण है, के दिन भोजन न करेगा। भोजन बिना किये तो रह नहीं सकता, मर जायगा। अतः भोजन युक्ति से करे। लंघन करे किन्तु युक्ति से करे। लघु भोजन को भी लंघन कहा है (लंघनं लघु भोजनम्) भोजन भी करे तो ऐसा करे जो हलका हो, हृदय को सुख देने वाला हूण हो, शोष स्वयं पचने वाला और अजीर्ण को भी पचाने वाला हो। जैसे पतली खिचड़ी हो, उसमें होंग जीरे का छौक लगा हो, चिक्क, अजमोद, सोंठ, काली मिरच पीपल, अदरक पड़ा हो। यद्यपि खिचड़ी भोजन ही है, किन्तु अनेक प्रकार के योग द्वारा वह अजीर्ण को नाश करने की औपधि बन गयी है, इसी प्रकार कर्म बन्धन का ही कारण है, किन्तु उसे सांस्थीय पद्धति से-युक्ति के द्वारा-कुशलता पूर्वक किया जाय तो बन्धन का कारण न होकर मोक्ष का साधन बन जायगा। जो कर्मों की युक्ति के द्वारा कोशल पूर्वक करते हैं उनको साधक कहते हैं।

उस साधक की मनः स्थिति कैसी है उसी को निम्न कहते हैं। रुचि, विश्राम, मान्यता, दशा, ये सब निम्न के ही अन्तर्गत हैं। मोक्ष के मार्ग बहुत हैं। साधक की मनः स्थिति को दो भागों में बाँट देते हैं। एक तो वे लोग जो हृदय प्रधान हैं, दूसरे वे हैं जो कर्म प्रधान हैं। हृदय प्रधान लोग अन्तःकरण-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—के द्वारा विचार विवेक, वैराग्य आदि विषयों पर मनन करते रहते हैं। कर्म प्रधान वाह्यकरण-बाह्य की ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य क्रिया करते हैं। वेदों में वही तो कर्मों की प्रशंसा है, और वही ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। सद्गुणों की श्रुति परस्पर में भिन्न-भिन्न-ही प्रतीत है। उन भिन्न-

भिन्न-सी प्रतीत होने वाली श्रुतियों की एकतानता करने के ही लिये भीमांसा शास्त्र है। भीमांसा के दो भाग हैं, पूर्व भीमांसा और उत्तर भीमांसा। कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो वार्ता-व्यवसाय-आजीविका उपार्जन के निमित्त किये जाने वाले कर्म जैसे यज्ञमानी, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि इस लोक के कर्म—दूसरे यज्ञयागादि परलोक सम्बन्धी कर्म। कर्म करने वालों का कहना है, कि यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्मों को छोड़कर अन्य सभी कर्म बन्धन के कारण हैं। इसलिये निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में ही निरत रहना चाहिये।

वेद की विभिन्न ऋचाओं को दो भागों में बाँटा गया है, एक कर्म परक दूसरी ज्ञान परक। कर्म परक ऋचाओं का जिनमें समन्वय है उन्हें पूर्व भीमांसा कहते हैं और जिनमें ज्ञान परक श्रुतियों का समन्वयात्मक विवेचन है उसे उत्तर भीमांसा या वेदान्त दर्शन कहा जाता है। भीमांसक लोग कर्म को ही प्रधान मानते हैं उनका कहना है, शुभ कर्म करते रहो, निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में निरत रहो, उससे आपको अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होगी, उनके मत में यही मुक्ति है। वेदान्तियों का कहना है, सर्वस्व त्यागकर-कर्मों से सम्पास लेकर विचार विवेक पूर्वक तत्त्व वस्तु का अनुसंधान करते रहो। वेदान्तियों में तत्त्व वस्तु पर मत भेद है। कोई निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दपन परमात्मा को परम तत्त्व मानते हैं। कोई सगुणसाकार ब्रह्म को ही परमतत्त्व ब्रह्मते हैं। उनके मत में श्री कृष्ण से परे कोई भी तत्त्व नहीं। श्री कृष्ण ही परमतत्त्व हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि सृष्टि के आदि काल से—प्राचीन काल से—दो प्रकार की निष्ठायें परम्परा से चली आ रही हैं। एक ज्ञान निष्ठा दूसरी कर्म निष्ठा। श्री कृष्ण जी के काल में

ज्ञान निष्ठा का जो भी स्तर रहा हो, कर्म निष्ठा का यही स्तर था, कि बड़े-बड़े यज्ञयाग करते रहो। नित्य पंच महामयज्ञ करो। आमानस्या को गितरों के लिये दर्श यज्ञ करो, पूणिमा को देवतार्ण के निमित्त पूणिमा यज्ञ करो। चतुर्मास्य में चातुर्मास्य यज्ञ करो। पशु यज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय आदि-आदि बड़े-बड़े यज्ञ हैं, जिन का वेदों में विशद वर्णन है। मीमांसकों का कहना है वेद में कर्म कांड की ही सबसे अधिक ९६ हजार श्रुतियाँ हैं। अतः वेद कर्म प्रधान है। ज्ञान सम्बन्धी श्रुतियों को तो प्रशंसात्मक कह कर उपेक्षणीय या गौण कर देते हैं। भगवान् श्री कृष्ण ने कर्मयोग को द्रव्य यज्ञों तक ही सीमित न रखकर उन्होंने यज्ञ भी विशद व्याख्या कर डाली है। वे द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ आदि समस्त शुभ कर्मों को यज्ञ की संज्ञा दे देते हैं। वे मीमांसकों के कर्मवाद को कर्म योग नहीं मानते वे कर्मयोग के साथ निष्काम को भी जोड़ते हैं। प्रभु प्राप्ति के लक्ष्य निष्काम भावना से—तुम जो भी कार्य करो वही यज्ञ है। मीमांसकों के कर्म की ओर उनके स्वयं रूपी मोक्ष ही उन्होंने खिन्नी उड़ायी है। प्रभु प्राप्ति या मुक्ति के निमित्त अंतःकरण से ही नहीं बाह्यकरण अर्थात् बाह्य इन्द्रियों से समस्त कर्मों को करते रहने पर हा बल दिया है। इन सबका उल्लेख व्यास स्वयं होगा। इसलिये जहाँ कर्मयोग आवे वहाँ निष्काम भाव से की जाने वाली भगवत् भक्ति, निष्काम भाव से किये जाने वाला योग, यज्ञ स्वाध्याय आदि सभी को समझना चाहिये।

शूत जी कहते हैं—भुविभ्यो ! जब ब्रह्म ने पूछा कि भगवन् ! कर्मों आप कर्मों के करने पर अत्यधिक बल देते हैं और कभी समस्त कर्मों का परित्याग करके सन्यास धर्म को श्रेष्ठ बताते हैं, इससे मैं किन्तु व्यग्र विस्मयित बन गया हूँ। मुझे एक निश्चित

मार्ग बता दो जिससे मुझे परम कल्याण की प्राप्ति हो सके।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन ! मैंने प्राचीनकाल से ही ते निपटायें बतायी हैं उन निपटायों को सब लोग समझने में असमर्थ हैं। जब तक शरीर में पाप रहते हैं, तब तक परमार्थ की बातें बुद्धि में बैठती नहीं। सहस्रों जन्मों में जिन्होंने तपस्यार्थ ज्ञान योग दान धर्मरूप शुभ कर्म किये हैं। उन्हीं के अध-पाप-क्षीण होते हैं। ऐसे ही क्षीण पाप पुरुष मुमुक्षु या अनघ कहलाते हैं। हे अर्जुन ! तुम अनघ हो, पाप रहित हो, कल्पवृक्ष की तरह हो। इसीलिये मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। तुम पापी होते, अधवान् होते तो मैं तुम्हें कभी उपदेश न करता। जो पापी पुरुष हैं, उनके हृदय में संतुष्टि नहीं रहती। पाप रहित होने से तुम मेरे उपदेश श्रवण करने के अधिकारी हो, अतः बताता हूँ सुनो—'देखो, जो सम्पत्क आत्मबुद्धि वाले बुद्धि जीवी बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष हैं, वे तो ज्ञानयोग की निपटायें हैं और जो कर्म प्रधान प्रकृति के कर्म योगी हैं, वे कर्मयोग की निपटायें हैं।'

अर्जुन ने पूछा—'ज्ञाननिष्ठ लोग क्या करते हैं, कैसे रहते हैं, उनकी रहन-सहन आचार-विचार के विषय मैं बताइये।'

भगवान् ने कहा—सन्ध्यासी लोग भी कर्म का अनुष्ठान नहीं करते। वे घर छोड़ कर विरक्त होकर—निष्कमे वन कर-वन में वास करने लगते हैं।'

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह मार्ग तो बहुत ही अच्छा है, न ऊँधों का लेना न मावों का देना। सब काम छोड़कर सुप-चाप जाकर वन में बैठ जाय।'

भगवान् ने हँसकर कहा—भैया ! उत्तम तो है, कर्म तो परम भी नहीं करता। केवल कर्मों को छोड़ देने मात्र से ही कोई सर्व कर्म शून्यता रूप ज्ञान निपटायें को प्राप्त नहीं कर सकता।

और सोचा—घर से निकल चलें, परिवार वालों से पृथक् होकर वन में वास करने लगे। कापाय ब्रह्म पहिनकर घर-घर में मधूक्करी मींगते किये। इतने से ही सिद्धि मिल जाय, सो भी बात नहीं। कर्म छोड़ देने से ही कोई सन्यासी नहीं बन जाता।

अजु न ने पूछा—“कर्म जब बन्धन के ही कारण हैं, तो उन्हें छोड़ देना सुरा है क्या ?”

भगवान् ने कहा—सुरा तो नहीं, किन्तु कर्मों को कोई छोड़ सके तब न ? कर्मों को छोड़ देना कोई साधारण काम है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! कम वाला इन्द्रियों—हाथ, पैर, बायीं मल सूत्रेन्द्रियों तथा श्रोत्र, कान, मुख, नासिका और त्वचा रूपी ज्ञान कर्म इन्द्रियों से ही नहीं होते, कर्म तो अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त और अहंकार द्वारा भी होते रहते हैं। शरीरवारी ऐश्वर्य कोन-सा प्राणी है, जो सर्वथा कर्मों से विरत हो सके। उन कर्मों का नियम न करना ही पुरुषार्थ है। इसी पर बल देते हुए भगवान् जो उपदेश देंगे उसका कर्ण में ग्रहण करूँगा।

छप्पय

करमनि को नहिँ त्याग बने दोउनि में अरुन ।
करिके पहिले करम पाँइ निष्ठा साधक जन ॥
होवै नहिँ निष्काम करे विनु करम योगिन ।
केवल करिके त्याग सिद्ध होवै नहिँ मुनिजन ॥
चाहे निष्ठा ज्ञान की, करमयोग होवै भले ।
करिके दोऊ करम ही, सिद्ध होवै जावै चले ॥



कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता

[३]

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशाः कर्म सर्वे प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ॐ
(श्री० भग० गी० ३ अ, ५, ६ श्लोक)

छाप्य

कर्म करे बिना तीन काल महे रहै न कोई ।
चाहे जागत रहो भले ही जाओ सोई ॥
सति और प्रसास कर्म ही जाऊँ मानो ।
छिनमर नाहिँ न रहे कर्म बिनु तुम सब जानो ॥
जीव चराचर जगत के, प्रकृति जनित गुणपश रहै ।
कर्म करन कूँ विपश सब, कर्म बिना कवहेँ न रहै ॥

॥ क्योंकि बिना कर्म किये कोई भी जन एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा सभी प्राणी अवश होकर कर्मों को करते रहते हैं ॥५॥

जो गुण ऊपर से तो कर्मेन्द्रियों को रोके रहता है और मन में इन्द्रियों के भोगों का विस्तार करता रहता है उस मूढ़ बुद्धि का मिथ्या-जगरी कहते हैं ॥६॥

कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता ८६

ज्ञानेन्द्रिय से न करोगे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण से कुछ चिन्तन करते रहोगे। कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता। सन्यास लेना भी कर्म है, भिक्षा मागने जाना भी कर्म है, खाना भी कर्म है, मूल मूल विसर्जन भी कर्म है इस पर कह सकते हैं—केवल शरीर सम्बन्धी कर्म यद्यपि कर्म हैं, किन्तु इनके करते हुए भी जो निरन्तर ब्रह्म चिन्तन करता है उसे कर्मजनित किल्बिस-पाप-दोष नहीं लगता। यह तो ठीक ही है जो ब्रह्म में लीन हो गया है, उसका तो कहे तब ही समाप्त हो गया है। हम सर्व साधारण साधक के सम्बन्ध में बता रहे हैं, कि कर्म के बिना प्राणी का रहना असंभव है। यद्यपि कर्म ही बन्धन का कारण भी है, किन्तु कर्म वासना बाधती है। इसलिये निष्काम बुद्धि से किंवा हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता। इसी बात पर भगवान् श्री कृष्ण जी समस्त गीता में बल देते रहेंगे। यद्यपि संन्यास निष्ठा का वे निराकरण नहीं करते। वे मानते हैं, जिसका अन्तःकरण निरन्तर वैराग्य युक्त होकर सद्ब्रह्म के विवेक में ही लगा रहे, तो उससे तो बाह्यकर्म होंगे ही, किन्तु बहुत से ज्ञानाभिमानी जो यह कहते हैं, कि संन्यास लिये बिना मोक्ष ही नहीं हो सकती। ब्रह्मरूप लोक की इच्छा से ही प्रव्रज्या-सन्यास-ग्रहण करते हैं यह लोक केवल सन्यासी को ही प्राप्त होता है। भगवान् इस बात का निराकरण करते हैं। वे कहते हैं, निष्काम कर्मों को अतः तक करते रहने वाला भी उसी लोक को प्राप्त होता है, जिसको कर्म त्यागी वीतराग सन्यासी। यही नहीं, वे निष्काम कर्म योगी को विशिष्ट-उसकी श्रेया श्रेयः मानते हैं। गीता में यही विशेषता है। वे कर्मों के स्वरूपतः त्यागने पर बल नहीं देते, यद्यपि उसको निन्दा करते हैं।

वेप दो प्रकार से बनाया जाता है, एक तो सचाई के साथ

अपना कर्तव्य पालन की बुद्धि से। दूसरा अपनी आजीविका चलाने के निमित्त दंभ से-लोगों को प्रभावित करके उन्हें ठगने के लिये। बहुत से बिना वेप बनाये ही साधारण रूप में अपना कर्तव्य पालन करते रहते हैं। दूसरे लोग उन्हें सर्व साधारण पुरुष ही समझते हैं ऊपर से वे सर्वसाधारण लोगों की भाँति बने रहते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वे अपने कर्तव्य का पालन करते रहते हैं। जैसे कोई जनता की शुद्ध भावना से सेवा करने वाला राजचर (पुलिस सिपाही) है। वह अपने गणवेश (वरदी) में सुसज्जित होकर अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है, तो वह उचित कर रहा है। लोग उसे देखते ही उसकी वेश-भूषा से ही समझ जाते हैं यह राज्य का चर (सिपाही) है। दूसरे डाकू चोर भी अपनी आजीविका—लोगों को लूटने पाटने को—अपने पेट तथा परिवार को पालने को राजचर गणवेश (वरदी) धारण कर लेते हैं, तो वे मिथ्याचारी हैं, दंभी हैं, कपट हैं पाखंडी हैं। भगवान् ऐसे मिथ्याचारियों की निन्दा करते हैं। तीसरे वे गुप्तचर हैं, जो सर्वसाधारण लोगों के रूप में रहते हैं, कोई गणवेश धारण नहीं करते—किन्तु साधारण वेप में भी अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन करते हैं। भगवान् उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ विशेष व्यक्ति बताते हैं।

जैसे ज्ञाननिष्ठ संन्यास मार्ग अनादि है श्री शुक याज्ञवल्क्यादि महर्षियों ने इसे अपनाया है, फिर भी भगवान् निष्काम कर्म युक्त वासना संन्यास को बिना किसी प्रकार विशेष वेप बनाये कर्मयोग का विशेष आदर करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं इसके लिये सर्वप्रथम वे स्वयं अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा व्यास-वसिष्ठ जैगीषव्य और जनकादि राजर्षियों का उदाहरण देते हैं।

पहिले जिनको अत्युत्कट बराग्य होता था, वे वन में भोजन

को कापाय रंग की छाल पहिन कर रहते थे। तूमा या बाँस का चुगमेता से जंगल में मिलने वाला पात्र रखते थे। कोई बिरले ही ऐसे होते थे उनके न तो मठ होते थे, न उनकी कोई जमात ही चलती थी। दूसरे ऐसे होते थे जो लोक संग्रह के लिये निष्काम भाव से केवल परमार्थपयोगी कार्यों में लगे रहते थे। ऐसे ही श्रुति महर्षि सब होते थे, किसी-किसी के साथ १०।१० सहस्र भजन करने वाले साधक होते थे वे कुलपति कहाते थे। उनमें बहुत थे सपत्नीक गृहस्थ महर्षि होते थे। जैसे विश्वामित्र, भरद्वाज, वसिष्ठ, जमदग्नि आदि-प्रादि। बहुत से अपत्नीक संन्यासक होते थे, जैसे महर्षि कण्व शौनक आदि। कर्म त्यागी परमहंस अवसृत शुक्रदेव के समान तो कोई बिरले ही होते थे, किन्तु वे भी अपने पूर्वज, व्यास, परासर, शक्ति और वसिष्ठ को यह उपदेश नहीं देते थे, कि तुम संन्यास ले लो। संन्यास के बिना गति नहीं। अन्ययुगों में संन्यास मार्ग निषेध तो नहीं था, किन्तु अपवाद स्वरूप कोई-कोई होते थे। कलियुग में तो प्रत्यक्ष रूप से संन्यास का निषेध है। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य में ही श्रीकृष्ण भगवान् के रहते-रहते कलियुग आ गया था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से कलियुग ने पेर नहीं फैलाये थे। सर्वान्तर्गामी भगवान् ने इसीलिये ब्रह्मार्पण बुद्धि से— निष्काम कर्म पर ही सर्वाधिक बल दिया। धर्मराज युधिष्ठिर ने यह वरदान माँग लिया था कि पाँच हजार वर्ष तक कलि का प्रभाव न बढ़े—वर्षाश्रम धर्म थोड़ा बहुत बना रहे। उस समय में कोई अत्युत्कट वैराग्यवान् अपवाद स्वरूप संन्यास ले भी सकता था, किन्तु कलियुग के पाँच सहस्र बीत जाने पर तो जैसा संन्यास लोग लेते हैं, उससे भगवान् ही बचावे। भगवान् ने लोगों को मिथ्याचारी बताया है। अतः इस युग में तो ब्रह्मार्पण बुद्धि

से—केवल भगवत् सेवा भाव से—निष्काम कर्म' योग का ही भगवान् उपदेश करते हैं। उन्हीं की भूमिका वाँसते हुए अर्जुन की शंका का भगवान् उपदेश दे रहे हैं।

सूत जो कहते हैं—“मुनिगो! अर्जुन से भगवान् ने जब दो नियम पूर्व स्थितियों-निष्ठाओं का वर्णन किया, तब यह स्वाभाविक ही पूछने वाले की इच्छा होती है, कि महाराज! दो ही ठीक हैं, किन्तु इन दो में से आप कितने श्रेष्ठ समझते हैं। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता की बताते हुए कह रहे हैं। अर्जुन से भगवान् बोले—अर्जुन! यह कहना तो सरल है, कि समस्त कर्मों को छोड़ छाड़ कर निरन्तर ब्रह्म चिंतन में ही निमग्न हो जाओ। किन्तु अपवाद स्वरूप किसी एक आघ को छोड़कर क्या ऐसा संभव हो सकता है?”

अर्जुन ने पूछा—“संभव क्यों नहीं हो सकता महाराज!”

भगवान् ने कहा—छरे, भाई! सभी प्रकृति के अधीन हैं। प्रकृति जनित जो सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं, ये गुण तो कर्म कराने के लिये ही हैं। गुणों में लोभ होने से ही सृष्टि का कार्य आरम्भ हो जाता है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं देखता जिसमें ये तीनों गुण अपना कार्य न कर रहे हों। ये जो राग द्वेषादि स्वाभाविक गुण हैं वे अवश होकर प्राणियों से कर्म कराते रहते हैं। आप गुणातीत हो जाओ, तो दूसरी बात है, नहीं तो बिना कर्म किये क्षण भर भी नहीं रह सकते।

अर्जुन ने पूछा—कर्मिन्द्रियों से कुछ काम न करे घात सूदकर उपचाप बँटा रहे तो?”

भगवान् ने कहा—छरे बाबा! कर्मिन्द्रियों से किया हुआ कार्य ही कर्म छोड़ा होता है। कर्म तो मन से भी होता है। मनन करना भी कर्म है। जिसे अपने वतोंव्य अकर्तव्य का विवेक नहीं ऐसा

कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता ६३

विमुझारमा बाहरी इन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहे वह तो मिथ्याचारी है, बगुला भक्त है।

शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! बगुला भक्त कैसा ?”

सूतजी बोले—“महाराज ! श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के साथ सीता जी को खोजते-खोजते पम्पा सरोवर पर पहुँचे। पम्पा सरोवर का जल परम स्वच्छ था, उसमें मछलियाँ भी बहुत थीं। भगवान् ने देखा एक स्वच्छ रंग का बगुला एक पेंर से खड़ा हुआ, दोनों तैयों को वन्द किये हुए ध्यान मग्न बना जल में खड़ा है। श्री रामचन्द्र जी उसे देख कर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने भपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—“सुमित्रानन्दवर्धन लक्ष्मण ! देखो-देखो, यह जल के भीतर एक पेंर से खड़ा हुआ कैसा तपस्वी बगुला है। भाँखें दन्द करके ध्यान में निमग्न है। इनकी ऐसी तपस्या को घम्यवाद है।”

लक्ष्मण जी जब तक कुछ उत्तर दें तब तक एक बड़ा मत्स्य बोला—“भगवान् ! आप इसके बाह्यरूप को ही देख रहे हैं। ऊपर से तो यह ध्यान का ढोंग बनाये हुए है किन्तु भीतर इसके हृदय में छुरी चल रही है। यह भगवान् का ध्यान न करके मछली का ध्यान कर रहा है। जहाँ इसे कोई जल के ऊपर आती हुई मछली दिखायी देगी मूट से उसे पकड़ कर गड़प कर जायगा। चट से निगल जायगा। सहयोगी ही सहयोगी के चरित्र को जानता है, आपने तो इसे अभी-अभी देखा है। हमारे समीप तो यह वयों से रह रहा है। मछली खा-खाकर इसने हमारे वंश का नाश कर दिया है, हमें निष्कुली कर दिया है। सो, शौनक जी बगुला भगत को ही मिथ्याचारी कहते हैं। कदो तो एक मिथ्याचारी की क्या और सुना दूँ ?”

शौनक जी ने कहा—हाँ-हाँ सूत जी ! मिथ्याचारी की क्या अवश्य सुनाइये ।

सूत जी बोले—“महाराज ! एक सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान में एक दम्भी रहता था । उसके पुत्र पौत्र सब थे, किन्तु वह परमहंस महात्मा का वेप बनाकर दूर-दूर चला जाता । उसके कुछ साथी उसके मिथ्या भक्त बनकर पीछे से जाते । वह दम्भी वर्षों केवल तिल ही खाता, तिल का तेल पीता उसकी लघु शंका से भी तिल का सार तेल ही निकलता । वह कहीं बड़े शहर के समीप घोर जंगल में जाकर मिथ्या समाधि लगाकर बैठ जाता । एक दीर्घ के परचात् उसके साथी उसे चारों ओर सबसे पूछते ताँछते खोजते-खोजते वहाँ जाते और लोगों में हल्ला करते ये बड़े सिद्ध महात्मा हैं, इनके मृत्यु में मशाल जलती है । वह नग्न रहता था । मोटा शरीर था । सहस्रों मरतारी उसे देखने को आने लगते । उसके छिपे साथ उसके पेशाब की लोटे में ले लेते उससे मशाल जला देते । लोगों को विश्वास हो जाता । कोई किसी धनिक से कहता—एक मन सुवर्ण भूमि में गाड़ दो सात दिन तक इनके मृत्यु से उसे सींचते रहो, हुडुना हो जायगा ।” कुछ लोग लोभवश बचकर में आ जाते । दुग्ध के लोभ से सोना गड़वा देते । दोचार दिन पश्चात् प्रवसर पाकर उस सुवर्ण की निकाल कर वपत हो जाते । यद्यपि वह वास्तव में परमहंस समाधि मग्न त्यागी महात्मा नहीं था, किन्तु लोगों को ठगने के लिये उसने ऐसा मिथ्याचारी वेप बना रखा था । ऐसे ही मिथ्याचारी संन्यासी का वेप बनाये लोगों को ठगने की पैद पालने की बहुत फिरते रहते हैं । वे मिथ्याचारी कहलाते हैं ।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो ! मिथ्याचारियों से बचते रहना चाहिये निष्काम भाव से प्रभुप्रीत्यर्थ भगवान् की भक्ति करते हुए

कर्म किसे बिना कोई रह ही नहीं सकता ६५

लोक संग्रहाय नियत कर्म कर्मों को करते ही रहना चाहिये ।
सी बात को भगवान् और स्पष्ट करके कहते हैं ।

छप्पय

कछु डोंगी यह करे करम इन्द्रिनि कूँ हउते ।
रोकि अकरमी धने कहें हम विरत करमते ॥
चितन मन ते करै अकरमी कैते होवै ।
धुनाहुगी मन करै भले जागें या सोवै ॥
दम्भी मिथ्याचार वे, कहें करै हम योग है ।
मनतै चित्त विषय ते, इन्द्रिनि के जो भोग है ॥



निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है

[४]

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
निषते कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥७॥
(भीमार्ज० गी० ३ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

ये हैं सबतैं श्रेष्ठ रोकि इन्द्रिय कूँ मगतैं ।
कारज सबरे करै करम फल तजि के तनतैं ॥
बन्धन को हैं हेतु बासना जग भोगनि की ।
भले न तनतैं करौ भावना है जा मन की ॥
अनासक्त हैं के करै, इन्द्रिय द्वारा करम जो ।
श्रेष्ठ करम योगी वही, जाने करयनि सरम जो ॥

* हे अर्जुन ! और जो वृक्ष मन के द्वारा इन्द्रियों को बस में करके प्रलासक्तभाव से कर्मन्द्रियों से कर्मयोग को करता रहता है, वह श्रेष्ठ है ॥७॥

इसलिये भैया ! ते निरत कर्मों को करता रह । क्योंकि अभर्मा बने रहने को अपेक्षा कर्म करते रहना श्रेष्ठ है । और फिर कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी तो नहीं चल सकती ॥८॥

एक बात को हम भी बार-बार याद दिलायेंगे और पाठक भी याद रखेंगे। इसे पुनरुक्ति दोष न समझेंगे। योता में जहाँ भी कर्मयोग या केवल योग शब्द आवे उसका निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण इति न किया हुआ कर्म ही समझे मीमांसकों का कर्मयोग न लें। वे वेद ज्ञान मार्ग कर्म मार्ग थे दो अति प्राचीन अनादि मार्ग हैं। जिन्हें कर्मकांड मार्ग और वेदान्त मार्ग कहा है। वेद कर्म प्रधान है। कर्म से अग्निप्राय यज्ञ यागादि पुण्य कर्मों से है। तीनों वेदों में यज्ञ की ही प्रशंसा है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ की विधियों का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है, और परस्पर में उन विधियों में भी भिन्नता है। महर्षि जैमिनी ने उनकी मीमांसा एक-तानता-की है। इसलिये कर्म कांडियों की मीमांसक कहते हैं उनका कहना है कर्म चार प्रकार के हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निवेद्य। कर्म बन्धन का कारण है इसे वे भी मानते हैं, किन्तु उनका कहना है बन्धन का कारण निषिद्ध तथा काम्य कर्म ही है। यज्ञ के लिये किये हुये कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। ज्ञान मार्ग वाले कर्ममात्र को बन्धन का कारण समझते हैं, अतः वे कर्म संन्यास को ही एक मात्र मोक्ष का साधन मानते हैं। किन्तु कर्म किये बिना तो प्राणी क्षण भर भी नहीं रह सकता—उसकी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती—इसलिये वे कहते हैं, केवल शरीर यात्रा के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं। किन्तु गीताकार कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग दोनों निष्ठाओं को स्वीकार करते हुए भी दोनों का समन्वय कर देते हैं। इसीलिये निष्ठाओं न कहकर 'निष्ठा' शब्द का प्रयोग किया। वे मानते हैं। जैमिनीव्यय शुकादि समस्त कर्मों का त्याग करके संन्यास धर्म का आचरण करने लगे। वे भिक्षा से शरीर यात्रा चलाते थे। भिक्षा के लिये भी किसी पर जोर नहीं डालते थे—आग्रह नहीं करते थे। गृहस्थियों के द्वार पर जाकर

खड़े हो जाते थे, और उतनी देर तक खड़े रहते थे, जितनी देर में कोई अपनी एक गी को दुहले। उसने समय में उसने मित्रा दे दी तो ठीक है, न दो तो चुपचाप चले आते थे, दूसरे गृहस्थी के द्वार पर जाकर नारायण हरि करते थे। दूसरे वसिष्ठ विश्वामित्र नेगोपव्य आदि महर्षि जनक राजर्षि अपने नियत कर्मों को निष्कामभाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त हो गये। तो गीताकार का कहना है। कर्मों में जो कामनारूपी विष है, उसे मार कर करो तो कर्म बन्धन का कारण नहीं है। जैसे संख्या है, विष है जो उसे खाया वह मर जायगा यह निश्चित बात है, किन्तु उसे ही शोधकर संस्कार करके उचित माथा में विधि पूर्वक सेवन करो तो वह अमृत का कार्य करेगा। पारा है उसे पी जाओगे तो शरीर में से फूटकर निकलेगा मृत्यु का कारण बनेगा। किन्तु उसी पारद को वेह शुद्ध और लोह शुद्ध द्वारा स्वेदन, मर्दन, सूक्ष्म, उत्थान, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, गगनप्राप्त, चारण, गर्भद्वि, बाह्यद्वि, जागरण, रजन, सारण, क्रामण और वेधादि कर्मों से शुद्ध करके सेवन करे तो अमृत का काम करेगा। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो क्षीयति न हो, किन्तु उसका किस योग से कैसे सेवन करना चाहिये ऐसे योजक दुर्लभ हैं। श्रीकृष्ण सबसे बड़े संयोजक हैं। उनका कहना है। सन्यास मार्ग में दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो ऐसे जो जन्म से ही वैराग्यवात् हैं, जिन्हें संसारी मोह ममता अपनी और आकर्षित कर ही नहीं सकती। जैसे शुक्रदेवी। उनको तो कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं। वे तो जन्मजात संन्यासी हैं दूसरे ऐसे लोग जो संन्यास धर्म की प्रशंसा सुनकर उत्सुकता से, लोभवश या किसी के बहकावे में आकर आदेश में संन्यासी का घेप बना लेता है और कर्मद्विषों के कर्म से विरत

होकर "मैं ब्रह्मा हूँ" का पायबस पहिनने से ही, दण्डधारण मात्र से ही नर तुरन्त नारायण रूप बन जाता है ऐम श्रुत मधुर वाक्यों से विमोहित श्रुति स्मृति कर्मों से रहित—सम्यासी वेपवारी व्यक्ति मिथ्याचारी है, विद्वन्नात्मा है, कपटो, असदाचारी तथा आत्मवंचक है। इसी प्रकार कर्मयोगियों में भी प्रकार के लोग हैं, एक तो वे जो निष्कामभाव से, लोक संग्रह के निमित्त जनताखुशी जनार्दन की सेवा के भाव से, प्रभु पूजा के निमित्त ब्रह्मापण बुद्धि से, बिना किसी लौकिक फल की इच्छा से निष्कामकर्मों का अनुष्ठान करते हैं उनके वे कर्म बन्धन का कारण न होकर मोक्ष के कारण होते हैं। दूसरे जो लोभ लालचवश तो कर्म करते हैं, किन्तु लोगों पर प्रकट करते हैं, मैं तो जनताखुशी जनार्दन की सेवा कर रहा हूँ, परोपकार के निमित्त कर्म कर रहा हूँ ऐसे लोग जो अपने को कर्मयोगी घोषित करते हैं, वे दम्भी हैं मिथ्याचारी और पाखंडी हैं। पाखंड और मिथ्याचारी तो कहीं भी हों वे तो निन्दनीय हैं ही, किन्तु जो एक तो श्रौत स्मार्त समस्त कर्मों त्याग करके केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिलावृत्ति पर निर्वाह करने वाला है, दूसरा निष्काम भाव से सभी नियत कर्मों को ब्रह्मापण बुद्धि से करते हैं इनमें से कौन उत्तम है। तो कहते हैं भाई दोनों ही उत्तम हैं दोनों ही मोक्ष के अधिकारी हैं दोनों ही कर्मवन्धनों से विमुक्त हैं इस पर जिज्ञासु पूछता है—नहीं, तो भी दोनों में से किसकी अधिक उपयोगिता है, किसकी विशेषता है। तो भगवान् कहते हैं, भाई सच्ची पूछते हो, तो विशेषता तो कर्मयोगी की है, सच्चा संग्यास धर्मावलम्बी विमुक्त हो जायगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु निष्काम कर्मयोगी-मुक्ति का अधिकारी होते हुए भी लोक संग्रह में विशिष्ट रहेगा। संसार के अन्ध मुमुक्षु उसका आदर्श ग्रहण करेंगे। जो "शान्तिनिष्ठा वाले" हैं उनसे आप

हठ पूर्वक कर्म कराने का आग्रह करो तो यह भी उनके साथ अन्याय है। परन्तु यहाँ प्रश्न तो अर्जुन का है। अर्जुन कहते हैं आप इन दोनों में से मेरे लिये जो एक उपयोगी मार्ग समझें उसे निश्चय पूर्वक बता दो। तब भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा—तुम निष्काम कर्म योगी बन जाओ। अर्जुन ! तू मियाँ कर्मों को कर, क्योंकि भ्रकर्मों बनने से तो ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करते रहना उत्तम है। इसी बात का विवेचन भगवान् ने आगे किया है।

सूतजी कहते हैं—मुमिये ! जब भगवान् ने ऊपर से त्याग का स्वरूप दिखाने वाले और मन से विषयों का चिन्तन करने वाले बनावटों त्यागी की मिथ्याचारी बताया, तब अर्जुन ने पूछा—मन से चिन्तन करने वाला तो ढोंगी है, किन्तु जो मन से भी चिन्तन नहीं करता और कर्मन्द्रियों से कर्म भी नहीं करता वह ठीक है न ? भगवान् ने कहा—उसके ठीक होने में तो कोई संदेह नहीं किन्तु अर्जुन ! मैं अपने मन की बात बताता हूँ। जो ज्ञानेन्द्रिय सहित मन का तो संयम कर लेता है क्योंकि अनर्थ का हेतु तो मन है। वस्तु या कार्य न कोई अच्छा है न बुरा भावना ही उसे अच्छे बुरे की संज्ञा देती है। इसलिये इन्द्रियों और मन की ती काधू में किये रहे और अपनी स्थिति के अनुसार अपने वर्य आश्रम के अनुसार ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्मों की श्रनासक्त भाव से करते रहने वाले की मैं श्रेष्ठ मानता हूँ। उसकी कुछ बिदाष्टता है।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! फिर आपने घपला कर दिया। फिर वही मोल माल बात कह दो। मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो ?

हँसकर भगवान् ने कहा—अच्छा, तुम्हारे लिये निश्चित

बता दें। आज्ञा की क्रिया का प्रयोग कर दें अच्छा, तो तू नियत कर्म को कर।

अर्जुन ने पूछा—नियत क्या ?

भगवान् ने कहा—धरे भाई ! नियत वही फल की इच्छा से रहित होकर-नियमित-नियम से विधान किया हुआ श्रोत और स्मार्त कर्मों को निरपेक्ष कर्मों को नियत कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—“कर्म करने का हूँ बाप आग्रह क्यों करते हैं ?”

भगवान् ने कहा—इसलिये कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते ही रहना श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने पूछा—कर्म न करें तो हमारी हानि ही क्या होगी ?”

हँसकर भगवान् बोले—कर्म न करोगे, तो यह चोला के दिन चलेगा ? कर्म न करने से शरीर यात्रा भी भली भाँति सिद्ध न होगी।

अर्जुन बोले—वर्यो महाराज ! ये त्वागी विरागी शानी सन्यासी सब मर ही जाते हैं क्या ? जैसे भिक्षा से इनका निर्वाह होता है वैसे ही मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

भगवान् ने कहा—भिक्षा माँगना भी तो एक कर्म ही है।

अर्जुन ने कहा—तब तो केवल शरीर निर्वाह के निमित्त किया हुआ कर्म है उससे पाप नहीं लगगा। वह बन्धन का कारण नहीं।

भगवान् ने कहा—“जैसे केवल देह निर्वाह के लिये किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता, उसी प्रकार यश के लिये किया हुआ कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता।”

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् ने यश के लिये कर्म

किस भावना से करना चाहिये इसका विवेचन जैसे किया है
उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

शास्त्रे विहित करतव्य करम करि मया ! अरजुन ।
बैठे ठाले कहा करोगे भ्रमत जगत मन ॥
करम करन है श्रेष्ठ अधम है अकरम रहियो ।
करम बिना जग साहिँ पार्थ है दुसई सहियो ॥
करे नहीं यदि करस तू, कैसे भोजन पाइगो ।
होहि देह निबोह नहि, तू मूलनि मर जाइगो ॥



यज्ञार्थं कर्म बन्धन का कारण नहीं

[५]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेव वोऽस्मिन्कामयुक् ॥*

(धीम० गीता ३ अ० ६, १० श्लोक)

छप्पय

यज्ञ हेतु जो कर्म-कर्म वेई उत्तम है ।
यज्ञ बिना जो कर्म बन्ध जग सबहि अधम है ॥
कर्म बन्ध तब होहि करे जय अन्य कर्म नर ।
वेद विहित शुभ कर्म होहि वेई अति सुखकर ॥
कुन्तीसुत ! आसक्ति तैं, हटि कै ही करमनि करो ।
यज्ञ निमित्त सब भौति तैं, कर्म करो हरि हिय धरो ॥

* परन्तु हे कौन्तेय ! यज्ञ के ही निमित्त कर्म करना चाहिये । यज्ञ के अनिर्दिष्ट कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन में बंध जाता है, परतः तू धार्मिक रहित होकर यज्ञार्थ ही कर्मों को कर ॥६॥
ब्रह्मा जो ने इस प्रजा को बहिले यज्ञ सहित रच कर लोगों से कहा था, कि तुम इस यज्ञ के द्वारा ही बड़ो, यह यज्ञ ही तुम मनुष्य की इच्छित वस्तु देने वाला हो ॥१०॥

यज्ञ, धातु, देव पूजा, संगतिकरणदान आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होते हैं। वे सब धातुएँ अनेक अर्थ वाली होती हैं। परन्तु जिस धातु ने यज्ञ बना है, उस धातु का प्रयोग तो परमार्थ कामों में ही किया जाता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—इहलौकिक और पारलौकिक। जिन कर्मों के करने से इसी लोक में सुख मिले उसे इहलौकिक कर्म कहते हैं, जैसे कृषि व्यापार आदि पारलौकिक कर्म वे कहते हैं, जिनमें इहलौकिक सुख चाहें मिले न मिले परलोक में दिव्य लोकों में सुख मिले और अन्त में परम सुख मोक्ष की प्राप्ति हो। गुरु के निकट अध्ययन करते वाला द्विज बटु को कौन सा इहलौकिक सुख है। दिन भर परिश्रम करता है, उपवास करता है, अग्नि होय करता है, शरीर को सुखाता है, इन्द्रियों के सुखों से वंचित रहता है। किन्तु अन्त में परलोक में उसे परम सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यज्ञ एक पारलौकिक कर्म है। यदि किसी संसारी सुख की कामना से यज्ञ न किया गया हो, तो यज्ञ से बढ़कर पावन कार्य कौन हो सकता है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण है, किन्तु निष्काम भाव से किया हुआ यज्ञ कर्म बन्धन का कारण न होकर भक्ति का कारण है। आप कहेंगे कि युधिष्ठिर किये हुये तो सभी कार्य उत्तम हैं। बात तो ठीक है, किन्तु शास्त्रों में दो प्रकार के कर्म बताये हैं, एक विधिकर्म दूसरा निषेध कर्म—एक वर्तव्य एक अकर्तव्य। उन्हें ही विहित अविहित भी कहते हैं। शास्त्र जिन कर्मों को करने को कहता है, उन्हें तो कर्तव्य कर्म विधि कर्म विहित कर्म कहा जाता है। शास्त्र जिन कर्मों का निषेध करता है, जिन कर्मों से मनुष्यों को रोकता है मना करता है, वे कर्म चाहें ऊपर से कैसे भी भड़कोल दिलायी दें वे निषिद्ध कर्म हैं। उन्हें नहीं करना चाहिये। आप कहेंगे कि शास्त्र में तो

‘वैश्याधर्मों के भी धर्म बताये हैं हमने सुना है चोर शास्त्र भी है, शास्त्र में तो व्यवसाय, मांस, मदिरा का भी विधान है। यद्यपि वैश्या वृत्ति चोरी, जाली, सुरापान, मांस भक्षण निषिद्ध कार्य है, किन्तु इनके लिये विधान क्यों है।’ ऐसी शंकायें वे ही लोग करते हैं, जो शास्त्रों का मर्म नहीं जानते। इनके भी विधि विधान है, किन्तु वे लौकिक शास्त्र हैं। जैसे कृषि का भी शास्त्र है, किन्तु कृषि करने से कोई मोक्ष की प्राप्ति थोड़े ही हो जायगी किन्तु कृषि के बिना प्राणी रह नहीं सकता, अतः खेती करनी ही पड़े तो इन-इन बातों को बचाकर करनी चाहिये। वैश्यावृत्ति का भी नीच कार्य है, किन्तु जिनके वंशपरम्परा से चला आया है, या किसी विवशता के कारण यह व्यवसाय स्वीकार किया है, तो उसे बिना नियम के मनमाने ढंग से करना चाहिये। शास्त्र में उसके भी नियम हैं। चोरो यद्यपि निषिद्ध कर्म है, किन्तु कोई अत्यन्त विवशता में करनी ही पड़े तो उसके भी नियम हैं। अरवाले को अत्यन्त आवश्यक दैनिक काम की वस्तुतथों को न ठाना चाहिये।

‘एक बड़े शास्त्री पंडित थे। कई दिन से खाने की अन्न नहीं मिला। सीचा—यया करें, न हो तो चोरी ही करें। फिर सीचा—किसी के घर में करें। यदि धन हीनों के करें तो उन्हें कष्ट होगा। व्यवसायियों के करें तो उन्हें असुविधा होगी। चलो, राजा के यहाँ करें, उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं है। गये राजा के यहाँ। पहरे वाले ने पूछा—कोन हो?’ पंडित जो झूठ से बोल सकते थे, शास्त्र बह्ता है—सर्व्ववद—सत्य ही भाषण करो। बोले—हम चोर हैं? उसने देखा ब्राह्मण है, पंडित है ईसी करता है। वह कुछ नहीं बोला। राजा के शयनागार में घुस गये। मणियों के दीपक जल रहे थे। सोने चाँदी के वस्त्र

रखे थे। हीरा मोती के हार टंगे हुए थे। शास्त्रज्ञ पंडित ही ठहरे। सोचने लगे—सुवर्ण चोरी तो महापातकों में से है। मणि, मुक्त, चर्दी आदि धातुओं की चोरी निषेध है, फल की चोरी सुवर्ण चोरी के समान है। इस प्रकार सबको छोड़ते-छोड़ते भंडार में पहुँचे। अन्न की चोरी भी निषिद्ध मिठाई भी निषिद्ध अन्न में भूसी रखी थी। सोचा—भूमी की चोरी के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। इसी को ले चल। भूमि खींचकर चलने लगे। तभी तक राजा को जमाने वाले-गाने वाले सूत मागध बंदी द्वार रोक कर गाने-बजाने का उपक्रम कर रहे थे। पंडित जी को पता ही न बना कि अश्वमेध का समय हो गया है। चोर ही ठहरे, अब क्या करे राजा के पसंग के नीचे छिप गये। राजा बिटान् या कविता प्रेमी था। गायक गाने लगे, मणियों के प्रकाश में उठकर उसने अपना महान् वैभव देखा। अप्सरा के समान पत्नी सजी-बजी सो रही थी हाथों बिछाड़ रहे थे, मोड़े हिनहिना रहे थे सूत मागध बंदी स्तुति गा रहे थे, राज्य मेवक भँगी हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा में लड़े थे, राजा को अपना वैभव देलकर कविता करने की सूची। उसने इन आज्ञा की कविता बनायी—स्वरुद्र चाँदनी से भी उज्ज्वल महान् हैं, हाथों बिछाड़ रहे हैं, मोड़े हिनहिना रहे हैं। दुग्ध फल के सदृश रोया है, मनोमुक्तन परनी है, आज्ञाकारी सबक सचि है।" इस प्रकार तीन पद तो बना चुके चौथा पद नहीं बन रहा था। राजा बार-बार दोनों बरगों को दुहराये। अब पंडित जी से नहीं रहा गया। जो त्रिम वस्तु का व्यवसनी होता है, वह वस्तु सम्पन्न होने पर व्यवसनी पर रहा नहीं जाता। पंडित जी विषा व्यासंगी थे। तुरन्त बोल उठे—“इतना सब होने पर भी मौखिक विष जाने पर कुछ भी नहीं है। (संमीनने नवनयोः नहि विविदस्ति)” राजा गुणग्राही थे। इन सुन्दर उपयुक्त उक्ति की

सुनकर बोले—आप कौन हैं ?

पंडित जी ने कहा—“हम चोर हैं ?”

राजा ने कहा—“यहाँ कैसे आये ?”

पंडित जी—चोरी करने आये ?

राजा—किसी ने रोका नहीं। अपना परिचय दिये बिना चले आये।

पंडित जी—पहरेदार ने पूछा था, हमने कह दिया चोर हैं।

राजा—आपने क्या-क्या चोरी की ?

पंडित जी—अपनी पोटली दिखाते हुए कहा—“इस भूखी की चोरी की।”

राजा—“यहाँ इतनी वस्तुएँ थी, सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता, घन धान्य इनकी चोरी क्यों नहीं की।”

पंडित जी बोले—राजन् ! इन वस्तुओं को देखकर मन तो करा, किन्तु शास्त्र आड़े आ गया। शास्त्र में सुवर्ण चोरी महापाप है, और भी वस्तु निषेध है। भूखी चोरी का कोई निषेध बचन न मिलने से केवल यही चुराई।”

यह सुनकर राजा उनके पैरों में पड़ गया। धन्य है पंडित-राज ! आप जैसे चोर को पाकर मैं कुतार्थ हो गया। इतने भारी शास्त्र मेरे राज्य में भूखे रहें, मुझे धिक्कार है। ब्रह्मन् ! आज से आप मेरे राज्य पंडित हुए एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएँ वर्ष में आपको मिला करेंगी।”

इस कथा का अभिप्राय इतना ही है कि पंडित ने निषिद्ध कर्म अवश्य किया किन्तु उसे भी मर्यादा के भीतर ही किया। व्यवस्था, शांति, सुशासन ये निषिद्ध कर्म हैं, किन्तु करना ही हो, तो इन्हें मर्यादा के साथ करें। जैसे सुरापान करना ही है, तो सोश्यामणि यज्ञ करके उससे बची हुई का पान करें (सोश्यामण्यां

सुरां पिबेत्) यहाँ पिबेत् विधि बचन नहीं है। पीना ही चाहिए यह बात नहीं है। यदि पीने की उत्कट इच्छा हो तो तोशमणि यज्ञ करके ही पीवे। अन्य समय भूलकर भी न पीवे। तात्पर्य निषेध में ही है। एक सज्जन एक महात्मा के पास गये बोले—“महाराज ! कोई ऐसा उपाय बताओ कि मेरी शराब छूट जाय, बहुत प्रयत्न किया छूटती ही नहीं है। बिना उसके मुझ पर रक्षा ही नहीं जाता।”

महात्मा अनुभवों थे—“बोले, तुम भगवान् का भोग लगा कर पिया करो।”

उसने कहा—“क्या महाराज ! शराब का भी भगवान् के भोग लग सकता है ?”

महात्मा ने कहा—“लग क्यों नहीं सकता। शास्त्र कहते हैं “यदन्नं पुण्यो भवतितदन्नं तस्य देवता।” मनुष्य जो वस्तु खाता है, उसका देवता भी उसी वस्तु को खाता है।” जाओ नहा धोकर चोका लगा कर, तुलसी दल डालकर भगवान् का भोग लगा कर पिया करो। प्रतीक्षा करो भोग लगाये बिना कभी न पिज्जा।” महात्मा जी पर उनकी श्रद्धा थी। प्रतिज्ञा करके चले गये।

वे राजवर्मचारी थे। अनेक स्थानों पर जाना पड़ता। कहीं चोका लगावें, कहीं नहावें, कहीं तुलसी मिली कहीं नहीं मिली। कई-कई दिन बिना पिये हो जाते। एक दिन उन्हें बड़े स्वामि हुई “भरे, किसी बुरी वस्तु का भगवान् को भोग लगाते हैं छोड़ें इसे।” यम, उस दिन से सदा के लिये उनकी सुरा छूट गयी।

महात्मा जी ने जो कहा था—“भोग लगाकर पिया करो।” इस पिया करो में विधि नहीं थी। प्राज्ञा नहीं थी। पीने का व्यसन लगाने में तात्पर्य नहीं था। निषेध में तात्पर्य था। उस पंडित ने

चारी करो तो उससे उन्हें कोई मुक्ति नहीं मिल गयी, इहलौकिक लाभ हुआ। इसने भगवान् को सुरा भोग लगाई, तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे बैकुण्ठ थोड़े ही दे दिया। उसका लौकिक व्यसन छूट गया। इसलिये निषिद्ध कर्म भी करने पड़े तो शाख उनका भी नियमन करता है। वर्तव्य कर्म, विधि विहित कर्मों को तो शाख को आना ही है, किन्तु विहित कर्मों के करने से भी कोई मोक्ष थोड़े ही मिलेगा। दान, धर्म, तप, जप, यज्ञ याग ये विहित कर्म हैं वर्तव्य कर्म हैं, किन्तु इनका भी फल स्वर्ग ही है। अच्छे लोकों की प्राप्ति मात्र ही इन शुभ कर्मों से पुण्य कर्मों से भी मोक्ष थोड़े ही मिल सकती है। मोक्ष तो आसक्ति त्याग से ही संभव है। फिर चाहे वह आसक्ति पुण्य कर्मों की हो या पाप कर्मों की पुण्य कर्मों की आसक्ति रेशम का मुलायम बंधन है। पाप कर्मों की आसक्ति लोह का कड़ा बंधन है। अतः कर्तव्य कर्मों को ही आसक्ति रहित करते रहने का नाम निष्काम कर्मयोग है। अतः कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करते रहने में कोई दोष नहीं।”

इस पर पूछा जा सकता है—“की आप कर्म करते रहने पर ही बल क्यों देते हो। किसी की रुचि कर्म करने की नहीं है तो।” इस पर कहते हैं—“अरे, बाबा ! हम कब कहते हैं शुद्धदेव जी को पकड़कर लाओ और उन्हें यज्ञयाग शुभ कर्मों में लगा ही दो। कोई अदवाद स्वरूप ऐन वीतराग जन्म से ही त्यागी विरागी हैं, उनके लिये तो ज्ञान मार्ग संप्राप्त मार्ग-त्यागपथ है ही किन्तु साधारणतया कर्म करे बिना कोई रह ही नहीं सकता अतः यज्ञ के निमित्त किमं हुए आसक्ति रहित कर्म बंधन का कारण न होकर मोक्ष के ही कारण है। अब शुद्धदेव जी को ही ले लीजिये। उन्होंने पेदा होते ही संन्यास धारण कर लिया, वन को चले गये। भिक्षा मांगने भी जाते तो किसी के घर उत्तनी ही देर

ठहरते, जितनी देर में एक गो दुही जा सकती है। क्योंकि जानते थे, अधिक कर्म करने से ममता-प्रासक्ति हो जायगी प्रासक्ति ही बन्धन का हेतु है, किन्तु वे ही जब भागवत पद लगे तो १८ सहस्र श्लोक वाली भागवत की एक स्थान पर र कर पढ़ गये। उन्होंने स्वयं राजा परोक्षित से कहा—हे राजपूत यद्यपि मैं निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावाद् हूँ, किन्तु भगवान् ई लीलाओं ने मेरा मन ऐसा आकर्षित कर लिया था, कि हठपूर्वक मुझे इस आख्यान को पढ़ना पड़ा। कारण कि विधि शीघ्र विधि दोनों प्रकार के कर्मों से परे रहने वाले, निस्त्रेगुणभाव में स्थित रहने वाले मुनिगण भी प्रायः करके भगवान् के गुणगान रूप कर्म में रमण करते रहते हैं। भगवान् के गुणगान सुनते रहना दूसरों को सुनाते रहना। भगवान् पुण्यश्लोक की पुण्य लीलाओं को लिखते रहना उनका प्रचार प्रसार करते रहना यह ज्ञान यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ रूपी कर्म में लगे रहने वाला कर्म जनित दोष के लिये नहीं होता। ये कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। तभी तो गो बौहवमात्र समय तक ठहरने वाले शुकदेव जी राजा परोक्षित की कथा सुनाने को ७ दिन तक उनके यहाँ ठहरे रहे। यदि वे किसी के विवाह तेरहों में ठहरते तो बंध जाते, किन्तु वे तो ज्ञान यज्ञ में संलग्न रहे, वह भी निष्कामभाव में राजा से दक्षिणा लेने के लोभ से सुनाने में प्रयुक्त नहीं हुए अतः मुक्त संग होकर यत्तार्थ किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं जैसे संन्यास मार्गगामी कर्म योगी को केवल शरीर निवाह के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, वैसे ही निष्काम, कर्म योगी के लिये यज्ञ के निमित्त

किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। इसी बात से समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—कर्म से ही प्राणी बंधता है किन्तु यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म से बन्धन नहीं होता।

अर्जुन ने कहा—“कर्म तो बंधन का कारण ही है, वशं चाहे पुण्यकर्म हो या पाप कर्म। यज्ञ एक पुण्य कर्म है, उसके करने से भी ब्राह्मण बंधेगा ही।”

भगवान् ने कहा—“तुम ठीक कहते हो कौन्तेय ! पाप वशं से जैसे नरक होता है, वैसे ही पुण्यकर्म से स्वर्ग होता है, किन्तु यज्ञरूप पुण्य कर्म यदि स्वर्ग की इच्छा का परिस्थान करके निष्काम भाव से मुक्त सङ्ग होकर किया जाय तो बन्धन का हेतु नहीं होता।”

अर्जुन ने कहा—“तो बन्धन का कारण आसक्ति ही हुई। अनासक्त भाव से कोई भी कार्य किया जाय, तो बंधन का कारण नहीं होता, तब फिर यज्ञ करो इसी पर आप बल क्यों देते हैं। हमें कहते हैं, मुक्त संग होकर पाप कर्म करो वह भी बन्धन का कारण न होगा।”

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—“देखो, भैया ! मुक्ति के अधिकारी सभी नहीं होते। केवल मुमुक्षु ही मुक्ति का अधिकारी होगा। मुमुक्षु की पाप कर्मों में तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं, उसकी स्वभाविकी रुचि पुण्य कार्यों में होगी। और यज्ञ से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नहीं। यदि आप मुक्त संग न होकर यज्ञ करेंगे, तो उससे आपकी स्वर्गादित्यों की ही प्राप्ति होगी। यदि मुक्त संग होकर यज्ञ करेंगे तो स्वर्गादित्यों ही न मिलकर मुक्ति मिल जायगी।”

अर्जुन ने कहा—“अच्छा थोड़ी देर को मान लें, किसी ज्ञानी

को हिंसादि पाप कर्मों में प्रवृत्ति हो ही जाय, और वह प्रनासक भाव से कर्तृत्वाभिमान शून्य होकर उन कर्मों में प्रवृत्त हो जाय, तो उसे पाप लगेगा कि नहीं।”

भगवान् ने कहा—“उसकी बुद्धि उस कर्म को पाप स्वीकार करले तो अवश्य पाप लगेगा।”

अर्जुन ने कहा—उसकी बुद्धि भी उस हिंसादि पाप कर्म में लिप्त न हो तब ?

हंसकर भगवान् बोले—अरे भाई, तब क्या, तब तो पाप पुण्य का प्रश्न ही नहीं बुद्धि ही तो यह पाप है, यह पुण्य ! इसकी साक्षी है, जब उसमें कर्तृत्व अभिमान भी नहीं है, बुद्धि भी उसको अनुलित नहीं होनी है, तो ऐसा पुरुष तो लड्डू लेकर एक ओर से प्राणियों का संहार करता चले तो भी वह वधन नहीं र्चन सकता ! भगवान् रुद्र तो प्रलयकाल में समस्त प्राणियों का संहार ही करते हैं, उन्हें कुछ पाप लगता है क्या ?

मुमुक्षु की स्वाभाविक प्राप्ति पुण्य कार्यों में होती है उनमें असक्ति न करे अनासक्त भाव ने उन पुण्य कर्मों को करत जाय इसलिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ तुम सब के ही निमित्त मुझ संग होकर कर्म करो।”

अर्जुन ने कहा—आप यह नई आज्ञा क्यों दे रहे हैं। यज्ञ ही निमित्त ही आप्रवृत्तियों कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—मैं कोई भी नई बात नहीं कह रहा हूँ। आप तो ओर में तुम्हें कोई आज्ञा नहीं दे रहा हूँ। समस्त प्रजाओं को रचने वाले तो प्रजापति भगवान् ब्रह्मा ही हैं न। वे ही समस्त प्रजा को रचते हैं, वे ही उन सब के लिये विधान बनाते हैं। जहाँ उन्होंने कल्प के आदि में सृष्टि रचना की तो प्रजाओं के साथ ही साथ यज्ञ की भी रचना की। पहिले मानसी सृष्टि की। उसमें

‘प्रजा’ की वृद्धि नहीं हुई, तब भगवान् की स्तुति की मनु रातरूपा ‘वो जोड़ा हुए, उनके लिये स्थान चाहिये कर्म चाहिये। स्थान के लिये ‘कर्म’ के लिये उनके ही शरीर से वराह रूप में भगवान् प्रकट हुए। वे भगवान् वराह ही यज्ञ स्वरूप हैं। उनके ही अंग से यज्ञ की सब विधियाँ, सब अंगोंपाङ्ग समस्त वस्तुएँ हुई। वराह भगवान् वेदत्रयी रूप हैं, क्योंकि यज्ञ वेदत्रयी से ही सम्पन्न होते हैं। वराह भगवान् त्वचा में छन्द, रोमवली में कुरा, नेत्रों में घृत, चारों चरखों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा भूयने में सुक, नासिका में लुवा, उदर में इडा, कानों में चमस, मुख में प्राश्नि, कण्ठ में ग्रह, भगवान् का बवाना ही मांनों अग्नि होत्र है, अभिव्यक्ति ही दीक्षा, श्रीवा उपसद (तीन इष्टियाँ) दोनो दाहे प्रायणीय और उदयनीय (दीक्षानस्तर इष्टि, यज्ञ समाप्ति इष्टि) जिह्वा प्रवर्ग्य कर्म (उपसद के पूर्व का महावीर कर्म) सिर (दोनो प्रकार की होमरहित और उपासना की अग्नि) सभ्य और ब्राह्मसभ्य अग्नि सिर है। भगवान् का वीर्य ही सोम है। तीनों सवन आसन है। सातों धातुएँ रस, रक्त, मेदा मांस अस्थि, वीर्य, और श्रोत्र ये ही अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोवमि नाम की सात संस्थाएँ हैं। सन्धियाँ ही सत्र है। यज्ञ (सोम रहित यज्ञ) ऋतु (सोम सहित यज्ञ वराह का स्वरूप है।) यज्ञानुष्ठान ही वराह के अंगों की गठन है, इस प्रकार अखिल देवता, सभी क्रियार्थ, सभी द्रव्य, वैराग्य, भक्ति, आत्मानुभवं तथा समस्त विद्यार्थों के स्वरूप वराह भगवान् हैं। ये वराह दूसरे कोई नहीं हैं। अर्जुन मैने ही वराह रूप रखकर पृथ्वी का उद्धार किया था। इसीलिये यज्ञ मेरा ही स्वरूप है। “यज्ञो वै विष्णुः” वेद भी यज्ञ की मेरा स्वरूप मानता है। इसलिये जैसे समस्त सृष्टि ब्रह्मा जी से हुई वैसे

ही यज्ञ स्वरूप में बराह भी ब्रह्मा जी से हुआ। ब्रह्मा मुझसे को नामि कमल से उत्पन्न हुआ। मैं ब्रह्मा जी की नाक से उत्पन्न हुआ। प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा जी ने ही सर्व प्रथम यज्ञ कर्म का विस्तार किया। यज्ञ करने के अनन्तर वे ब्राह्मणों ने प्रजा के जनों से बोले—“तुमो भाइयो मेरी बात। जेमे मेने यह यज्ञानुष्ठान किया है, वैसे ही तुम लोगमो इसी यज्ञ के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना।”

प्रजा के लोगों ने पूछा—प्रभो! यज्ञों में क्या होता है?

ब्रह्मा जी ने कहा—“यज्ञों में देवताओं का यजन पूजन होता है।”

प्रजा के लोगों ने पूछा—“तब भगवन्! इस यज्ञ से लाभ तो देवताओं का ही हुआ। हमको यज्ञ से क्या लाभ?”

ब्रह्मा जी बोले—“देखो, भाई! जैसे यह शतरूपा है न, वह मनु की यह कामधेनु है। स्त्री से गृहस्थियों की सब कामनाएँ पूरी होती हैं। वे देवता, पितर तथा ऋषियों के ऋण से स्त्री की ही सहायता से उद्धार होते हैं। वैसे ही यह यज्ञ तुम्हारे लिये इष्ट कामधेनु है। इसी के द्वारा तुम अपने इष्ट की प्राप्ति कर सकते हो। अपने ही समस्त अभीष्ट फलों की पूर्ति कर सकते हो। देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया हुआ यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाओं की पूर्ति करेगा।”

प्रजा के जनों ने कहा—“भगवन्! यज्ञ के भाग को तो देवता प्राप्त कर लेंगे, हम सब लोग तो कोरे के कोरे ही रह जायेंगे।”

सुतजी कहते हैं—मुनियो! प्रजाजनों की ऐसी बात सुनकर ब्रह्मा जी हँस पड़े। अब ब्रह्मा जी ने जैसे प्रजाजनों को समझाया उस प्रकरण को जैसे भगवान् वासुदेव श्रुत से कहेंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

यज्ञ कहा है सुनो, तुम्हें अचई बतलाऊँ ।
 यज्ञ कहें तें भयो आदि सब वृत्त बतलाऊँ ॥
 कमलासन अज मह प्रजापति जो कहलावै ।
 यज्ञ सहित सब प्रजा रची उनतें बतलावै ॥
 बुद्धि प्राप्त सचई करो, तुम सब यज्ञ प्रभाव तें ।
 यज्ञ भोग-वृद्धित तुम्हें, देगो सहज स्वभाव तें ॥



परस्पर के सहयोग से ही कार्य सिद्ध होता है

[६]

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्मोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥६॥
(भीष्म० गी० ३ स० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

यज्ञ और सब प्रजा साथ ही जनमें तुम हो ।
देवनि को मुख यज्ञ, यज्ञ तैं ही उन्नत हो ॥
देवनि कैं तुम करो यज्ञ तैं उन्नत भाई ।
उन्नत तुमकू करे देव हो उभय भलाई ॥
दोऊ तुम निस्वार्थ है, रहो परस्पर भावमय ।
होई परम कल्याण तब, उन्नत होगे तुम उभय ॥

* ब्रह्मा जी ने कहा—यज्ञ करके तुम देवताओं को वड़ाओ और यज्ञ से उन्नत देवतागण तुम्हारी वृद्धि करे । इस प्रकार तुम सब परस्पर में एक दूसरे को उन्नति करते हुए परम धैर्य को प्राप्त होगे ॥११॥

परस्पर के सहयोग से ही कार्य सिद्ध होता है ११७

यह संसार परस्पर के सहयोग से चल रहा है। पृथ्वी अकेली कुछ नहीं कर सकती, जब तक कि उसमें जल, तेज, वायु और आकाश का सहयोग प्राप्त न हो, खाली जल पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश के बिना टिक नहीं सकता। भवन में जब तक ईंट गारा, सहयोग न करेंगे तब तक वह खड़ा रह ही नहीं सकता। बच्चे के पालन पोषण में माता पितादि सहयोग न करें, तो वह रह नहीं सकता। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ, समस्त अंग परस्पर में सहयोग देना छोड़ दें, तो शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। संसार सहयोग की नींव पर ही अवस्थित है। संसार का एक भी पदार्थ, एक द्रव्य, एक भी कर्म सहयोग के बिना अपने काम को करने में समर्थ नहीं। सन्तानें माता-पिता के सहयोग से ही होती हैं। सहयोग का ही नाम संसार है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी अर्जुन से कह रहे हैं—“अर्जुन ! जब ब्रह्माजी ने प्रजा के जनों से कहा कि तुम यज्ञ कर्म द्वारा देवताओं के सहयोग से काम चलाओ। तब प्रजाजनों ने पूछा—देवता तो हमारा दिया हुआ यज्ञ भाग खा जायेंगे। हमें उन्हें यज्ञ करने से क्या लाभ ?

“ इस पर ब्रह्माजी ने कहा—“देखो, भैया ! हविर्भाग को तुम देवताओं के मुख में डालोगे तो देवता भी तुम्हें यज्ञ करेंगे।”

प्रजा के लोगों ने कहा—“भगवन् ! देवता तो हमें दृष्टि मोचर होते नहीं। उनका मुख तो हमें दीखता नहीं। फिर उनके मुख में हम हविर्भाग कैसे डालें ?”

यज्ञ के द्वारा प्रसूत हुए देवतागण तुम्हें इच्छित भोगों को देंगे। जो पुरुष उन देवताओं द्वारा दत्त भोगों को उनको बिना धर्मयुक्त किये खाता है, वह तो चोर है ॥१२॥

ब्रह्मा जी ने कहा—“देवताओं का मुख अग्नि है। अग्नि के द्वारा ही वे अपने भाग को ग्रहण करते हैं, तुम जिस देवता के उद्देश्य से अग्नि में आहुति दोगे, वही देता उनसे तुरन्त ग्रहण कर लेगा।”

प्रजाजन—इससे हमारा श्रेय क्या होगा ?

ब्रह्मा जी—“सबरे, तुम अग्नि द्वारा उन्हें दत्त करोगे, तो वे भी तुम्हारी कामनामि, जठराग्नि आदि को शांत करेंगे। तुम उन्हें दत्त करोगे, वे तुम्हें दत्त करेंगे। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से परम श्रेय जो मोक्ष है, उसको तुम प्राप्त हो जाओगे।”

प्रजा के लोगों ने पूछा—“यदि हम देवताओं का यजन न करें, उनके भाग न दें तब क्या होगा ?”

ब्रह्मा जी ने कहा—“तब तुम्हें चोरी का पाप लगेगा।”

प्रजाजनों ने पूछा—“चोरी का पाप कैसे लगेगा महाराज ! हम देवताओं की कौन सी वस्तु चुराने गये ?”

ब्रह्मा जी ने कहा—“पहिले यह समझो चोरी कहते किसे हैं ?

प्रजा के लोगों ने कहा—“किसी की वस्तु हो, उससे बिना पूछे उसकी बिना अनुमति लिये हुए उस वस्तु का उपयोग स्वयं ही कर लेने को चोरी कहते हैं।”

ब्रह्मा जी ने कहा—“हाँ ठीक है, अच्छा तुम जो अन्न खाते हो, वह कहाँ से आता है ?”

प्रजा जन—“जैसे तो हम अपने पुण्याय से पृथ्वी से उत्पन्न करते हैं।”

ब्रह्मा जी—“यदि पृथ्वी पर इन्द्र वर्षा न करे तो अन्न कैसे उत्पन्न होगा ?”

प्रजाजन—“हम नदियों से-कुंधों में से-पानी दे लेंगे।”

ब्रह्मा—कहीं से ले लो जल तो चाहिये। जल के अधिष्ठातृ देव वरुण हैं, वर्षा के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। प्रकाश के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं, प्राण के अधिष्ठातृ देव वायु हैं। पृथ्वी न हो, जल की वर्षा न हो, प्रकाश न हो, वायु न चले, तो अन्नादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। अतः जो उत्पन्न करता है, उसका स्वामी तो उत्पन्न करने वाला ही माना जायगा। आप देवताओं द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को देवताओं को दिये बिना, उनकी अनुमति लिये बिना, उनका यजन-याजन पूजन किये बिना, उनका भोग लगाये बिना खाली तो चोरी नहीं हुई तो क्या हुआ। चोर की जो दशा होती है, बन्धन में डाल दिया जाता है, वही दशा तुम्हारी होगी। तुम बन्धन में डाल दिये जाओगे। खाने के लिये तो कारागार में बन्धियों को भी दिया ही जाता है, पेट तो चोरों का भी भरता ही है, किन्तु उनकी इस वृत्ति की प्रशंसा नहीं। वे स्वतन्त्रता के-मुक्ति के-अधिकारी नहीं। उन्हें बार-बार बन्धन में पड़ना पड़ेगा। इसी प्रकार यज्ञों द्वारा संतुष्ट हुए देवतागण उल्लास के सहित इष्ट भोगों को प्रदान करेंगे। तुम्हें दूध के लिये पशु, खाने की अन्न, गृह के कामों की सम्पन्न करने वाली, तथा सन्तान उत्पन्न करने वाली गृहिणी, पुत्र, पौत्र, घन धान्य आदि वस्तुओं को देंगे। उनकी दी हुई वस्तुओं का उन्हें बिना दिये हुए-बिना भोग लगाये हुए-तुम उपयोग करोगे, तो चोर न हुए तो कौन हुए। चोरी का दण्ड तुम्हें यही मिलेगा कि तुम्हारा संसार बन्धन नहीं छूटेगा जन्म मरण के चक्कर में फँसे ही रहोगे।”

प्रजाजनों ने कहा—“हम पैदा करके सब देवताओं को ही खिला देंगे, सब तो हम भूखे ही मर जायेंगे।”

ब्रह्मा जी ने कहा—अरे, यह बात नहीं है। देवता तो भावना

के भूखे होते हैं, वे भुख में बहुत नहीं खाते। नासिका से सूँघकर ही एम हो जाते हैं। उनका संस्कार करो पूजन करो। जितना पैदा करो सबके सब को स्वाहा कर देने को कौन कहता है। यज्ञ करके अवशिष्ट वच जाय, उसे प्रभु प्रसाद समझ कर भक्षण करो। जो कुछ पाक तैयार करो उन्हीं के निमित्त से करो। सूतजी कहते हैं—‘मुनिगो ! इसका पूरा विवेचन जो ब्रह्मा जी प्रजा के जनों से करेंगे। उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जिनि देवनि कूँ सदा यज्ञ तँ छुट्ट करो तुम ।
 बिबु मांगे ही देहें भोग इच्छित वे उत्तम ॥
 उन भोगनि कूँ देवनि को परसाद समुत्तिके ।
 भोगो उनकूँ अरपि यज्ञ कूँ नित-नित करिके ॥
 यज्ञ-भाव-भावित अमर, देहिँ भोग हरणित रहें ।
 बिना दिये भोगे स्वयं, ताहिँ चोर अरपि मुनि कहें ॥



बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप
को ही खाता है

[७]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥१॥

(द्यौ मग० गी० ३ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

यज्ञ देव हित करें हिंसे में जो हरपावै ।

यज्ञ-रोप जो बचै अब ताही पूँ खावै ॥

ते अति उत्तम पुरुष होहिं निष्पाप निरन्तर ।

यज्ञ-रोप है अमृत पुण्यप्रद अति ही सुखकर ॥

स्वार्थ-रत पापी पुरुष, उदर निर्मित पकात है ।

अब खावै नहिं ते अधम, पाप-पाप ही खात है ॥

ॐ जो यज्ञ से बचे अन्न को खाने वाले पुरुष हैं, वे सभी पापों से
मुक्त होते हैं, और जो पापी पुरुष अपने पेट के ही निमित्त पका कर
भक्षण करते हैं, वे तो मानों साक्षात् पाप को ही खाते हैं ॥१॥
अन्न से ही सभी प्राणी पंचा होते हैं, अन्न को उत्पत्ति मृष्टि से

यह सृष्टि चक्र ऐसे ही नहीं चल रहा है, इसे कोई बला रण है और मुख्यवस्थित ढंग से चला रहा है। जो बद्ध जीव है बुद्धि पूर्वक वैदिक तान्त्रिक कर्मों को-यज्ञानुष्ठानों को-कर नहीं सकते, केवल आहार निद्रा मैथुनादि को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने बैठे हैं, ऐसे लोगों के लिये शास्त्रोपदेश नहीं है। जिन्हें मुक्ति की इच्छा है—जिनकी सन्तुष्टि इन संसारी भोगों से नहीं होती। जो संसारी भोगों के अतिरिक्त भी दिव्य सुख-परम-शान्ति चाहते हैं। शास्त्र उन्हीं सुपार्श्वों के लिये है और वे ही शास्त्र के उपदेशों को सुनने के पात्र हैं। ब्रह्मा जी ने यज्ञ के साथ ही साथ प्रजा को उत्पन्न किया। यज्ञ और प्रजा सगे भाई-भाई हैं। प्रजा के लोग दो भागों में विभक्त हैं। वराहश्रमी और अवणश्रमी। अवणश्रमियों में वराह व्यवस्था नहीं, वैदिक कर्मकाण्ड नहीं। वराहश्रमियों में भी चार वराह हैं, ब्राह्मण वराह, जिनका काम ही है यज्ञ याग, पूजा पाठ करना। दूसरा क्षत्रिय-प्रजा के लोगों को चोर डाकू आदि दस्तुखों के भय से बचाना, विपक्षियों को युद्ध में हराकर धर्म का प्रचार-प्रसार करना। तीसरे वंशों का कार्य यह है कि अन्नादि दुग्धादि पदार्थ करके उसे प्रजाजनों में वितरित करना, चौथे शूद्रों का काम यह है कि इन तीनों वर्गों के लोगों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करते रहना। इनकी सेवा के अतिरिक्त और किसी शास्त्रीय कर्म कलाप की स्वतन्त्र रूप में आवश्यकता नहीं क्योंकि सेवा धर्म ऐसा महान् धर्म है कि जिन की सेवा करते हैं उनके कुछ सुकृत उन्हें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार स्त्रियों को भी किसी कर्मकाण्ड के स्वतन्त्र रूप में करने की आवश्यकता नहीं। स्त्री

होती है तथा बुद्धि होती है यज्ञ से घोर यज्ञ कर्म से ही उत्पन्न होता है ॥१४॥

बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है १२३

तो पुष्टि की अर्धाङ्गिनी है न ? उसे पुरुष के किये हुए कर्मकांड का स्वतः ही आधा भाग मिल जायगा। इनके अतिरिक्त जो तीन वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-हैं उनकी द्विज संज्ञा है। वैदिक कर्मकाण्ड को परम्परा की निमाना उनका प्रधान कर्तव्य माना गया है। अतः ये यज्ञधिकारी हैं, इन्हें सदा सर्वदा यज्ञ का उपवीत धारण किये रहना चाहिये। यज्ञ क्यों करना चाहिये ? क्योंकि यज्ञ प्रजाजनों का सहोदर है, ग्रहणा जो ने प्रजा और यज्ञ को साथ उत्पन्न किया। हिंसा न करना यही परम धर्म है। किन्तु बहुत-सी ऐसी हिंसायें हैं कि उनके किये बिना शरीर निर्वाह ही नहीं हो सकता। वे आवश्यक हो जाती हैं। पहिले सभी लोग जीवोपयोगी सभी आवश्यक कर्म अपने आप अपने घरों में ही करते थे। जैसे भोजन बनाना भोजनोपयोगी सामान को तैयार करना, जल कुएँ से या नदी से लाना। घर को स्वयं स्वच्छ रखना। इनमें छोटे-मोटे जीवों की हिंसा हो जाना अनिवार्य है। घान कूटते समय, अन्न पोखने को चबकी बनाते समय, भोजन बनाने को बूँदों में अग्नि जलाते समय या दीपक जलाते समय, जल रखते समय, भाड़ू लगाते या लीपते समय ये पाँच अपराध तो अनिवार्य से होते हैं, इनमें जाने में अनजाने में हिंसा हो ही जाती है। इन पाँचों पापों के परिहारार्थ शास्त्रों ने पंच महायज्ञ प्रत्येक द्विज के घर में अनिवार्य बताये हैं। उन पाँचों यज्ञों के नाम हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ (२) देवयज्ञ (३) भूतयज्ञ। (४) पितृयज्ञ और (५) मनुष्य यज्ञ। महायज्ञ का अर्थ है स्वाध्याय यज्ञ। नित्य के स्वाध्याय से ऋषिगण तृप्त होते हैं। नित्य वेद पुराण उपनिषदादि का स्वाध्याय या मंत्र जप करना चाहिये। देवयज्ञ उसे कहते हैं जो देवताओं के निमित्त नित्य अग्नि में हवन किया जाय। घासा बिघासा तैयार सभी द्रव्यों की तृप्ति के लिये

भोज्य पदार्थ अर्पण करना। पितरों के निमित्त अन्न देने को पितृ यज्ञ कहते हैं। तथा सनकादि महर्षियों और मनुष्य रूप में कोई अतिथि आ जाय, उन्हें अन्न अर्पण करना। ब्रह्मयज्ञ को छोड़कर ये चारों वैश्व देव यज्ञ कहाते हैं। इनके अतिरिक्त गौ, कुक्क, कौश्रा, देवतादि और चींटी आदि जीवों को अन्न की बलि देनी चाहिये। ये सब कर्म मिलाकर बलि वैश्य देव यज्ञ कहाते हैं। इस यज्ञ को प्रतिदिन सृष्टि के क्रम को ध्वंशुण बनाये रखने को करते रहना चाहिये।

आप पूछेंगे कि इतने कर्मों से और सृष्टि के बर्तों से क्या सम्बन्ध? तो इसका उत्तर यही है, कि संसार परस्पर की सहानुभूति कुतन्त्रता से ही चल रहा है। सभी प्राणी देवताओं के पितरों के, ऋषियों के, मनुष्यों के, कुटुम्बियों के तथा समस्त चराचर प्राणियों के ऋणी हैं। अतः हमें सबको यथा शक्ति बलि देनी चाहिये, अग्नि में हवन करना चाहिये तथा देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर तथा सभी प्राणियों के नाम से तर्पण करना चाहिये। जो पाक बनावे वह अपने ही लिये न बनावे। पाक बनाकर वैश्य देव यज्ञ करे, कोई अतिथि आ जाय, तो उसे भोजन करा के उनका जो धनमिष्ट-वचा अन्न हो उसे पार्श्व-यज्ञ से बचे अन्न को 'अमृत' कहते हैं, अतिथि को भोजन कराने के अनन्तर जो बचता है उसे 'विषम' कहते हैं। इसीलिपे दास्यकार कहते हैं, गृहस्थ को 'अमृताशी तथा विषताशी होना चाहिये। जिनका हमारे ऊपर ऋण है, जिन्होंने हमारे ऊपर उपकार किये हैं, उनके ऋण को न चुकाना, उनके प्रति कुतन्त्रता प्रकट न करना यह तो अन्धाय है, पाप है, कुतन्त्रता है। इसलिपे कुतन्त्रता के पाप से बचने के लिये यज्ञ करना आवश्यक है।

मृतजो कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रो-रूपचन्द्र, जो

बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है । १२३

अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! मनुष्य में और पशुपक्षियों में अन्तर इतना ही है, कि पशु-पक्षी आदि बद्ध जीव केवल पेट भरने को ही जीते हैं। चींटो रात्रि दिन भोजन की चिन्ता में ही घूमती रहती है, पशु-पक्षी अज्ञानी जीव भोज्य पदार्थ आते ही भक्षण करने लगते हैं। किन्तु मुमुक्षु जीव भोज्य सामग्री सम्मुख आते ही उस परम पिता परमात्मा सबको देने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यज्ञ के द्वारा वैश्व देवादि को आहुति देते हैं, सब प्राणियों का भाग निकाल कर यज्ञ से बचे हुए अमृत तुल्य अन्न को प्रसाद समझकर पाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे क्या होता है, भगवन् !
भगवन् ने कहा—अन्नादि सब में कुछ न कुछ पाप का अंश रहता है, कर्मों में भी पाप हो जाता है, मनुष्य कितना भी बचावे उससे भी कुछ न कुछ पाप ही खाता है। इन सभी पापों से वही मनुष्य छूटता है, जो यज्ञ से तथा अतिथि-सत्कार से बचे हुए अन्न को खाता है।

अर्जुन पूछा—“यदि वह यज्ञ किये बिना ही ताजी-ताजी बनती जाय और तुरन्त खाता जाय, तो उसका क्या होगा ?”

भगवान् ने कहा—होगा क्या ? वह अन्न छोड़े ही खाता है, वह तो साक्षात् पाप को ही खाता है। अपने ही निमित्त पाक करने वाला तो पापी है क्योंकि जिस अन्न को वह पकाता है या बिना अर्पण किये हुए अन्न को खाता है, वह चोरी करता है, क्योंकि उस अन्न में देवतादिकों का भी तो भाग है। दूसरों के भाग को अकेले ही अकेले खा जाना पाप नहीं है क्या ?

अर्जुन ने पूछा—“अन्न में देवतादिकों का भाग कैसे है ?”
भगवान् ने कहा—“अच्छा, पहिले इसी पर विचार करो यह अन्न होता कैसे है ? यह अन्न पानी से उत्पन्न होता है, पानी

न हो तो अन्न उत्पन्न न हो, केवल पानी से भी नहीं हो सकेगा, जब तक प्रकाश न हो। पृथ्वी चाहिये वायु चाहिये प्रकाश चाहिये आकाश चाहिये ये सब तो निर्जिव हैं। जीवन के बिना प्राणियों की स्थिति नहीं, इसलिये जल को जीवन कहा है। जल इसमें मुख्य है। इसीलिये जल को वीर्य भी कहा है। अन्न गेहूँ, जौ, चना, चावल आदि को ही नहीं कहते। जो वस्तुएँ पानी पीयी जाती हैं वे सभी अन्न कहलाती हैं। यह बात होला है पानी से। पानी हमें पर्जन्य अर्थात् वृष्टि से मिलता है। वृष्टि के बिना पानी कहाँ से आवे। वृष्टि भेष करते हैं उन भेषों के स्वामी इन्द्र हैं। इन्द्र कृपा न करें तो वर्षा होगी ही नहीं। ये भेष बनते हैं धूम्र से। जैसा धूम्र होगा, वैसा ही भेष बनेंगे। यदि मंत्रों के द्वारा विशुद्ध सामग्रियों की आहुति से जो यज्ञ धूम्र होगा, उससे शुद्ध पवित्र पुण्यमय भेष बनेंगे। यदि भोजन बनाने वाली साधारण अग्नि के धूम से, या कोयला आदि के दुर्गन्धमय धूम से भेष बनेंगे तो पापमय भेष होंगे। ये पुण्यात्मा पापात्मा जीव आकाश में जलमय बन जाते हैं। स्वर्ग से भी जो जीव ढकेल दिये जाते हैं वे भी आकाश में भेषमंडलों में धूमते रहते हैं। ऐसे ही नारकीय पापी जीव भी। जब वृष्टि होती है, तो जलमय होकर वे जीव भी बरसते हैं, और औपधियों को-अन्नों को-जीवनदान देने हैं। 'बीज' उस जीवन्मय जल के सहारे वृद्धि को प्राप्त होते हैं। कर्मानुसार पूर्व जन्मों के प्रारब्धानुसार प्राणी उन-उन अन्नों को-औपधियों को खाते हैं। उनसे क्रियों के रज नाम की धातु बनती है, पुरुषों की वीर्य नामक धातु बनती है। प्रारब्धानुसार-संयोग संस्कारानुसार-दोनों का परस्पर में संयोग होने से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसलिये सभी प्राणी जिस अपने-अपने आहार को खाते हैं, उसी का नाम अन्न है।

बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है १२७

उसी अन्न से भूतमात्र की उत्पत्ति है। वह अन्न मेघों द्वारा—
पर्जन्य द्वारा जल से ही पैदा होता है। वे विशुद्ध पर्जन्य—मेघ—
यज्ञ धूम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। साधारण धूम से अशुद्ध
पर्जन्य। अतः अन्नोत्पत्ति में प्रधान कारण यज्ञ ही हुआ, अतः
प्रजाजनों का यज्ञ अवश्य करना चाहिये। जो यज्ञ नहीं करता,
कर्ममार्ग को छोड़ देता है, वह पापी है, कृतघ्नी है, संसार को
विनाश की ओर ले जाने वाला है। इसलिये यज्ञ आवश्यक है,
रम कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने कर्मकांड
को आवश्यक कर्तव्य बताकर नित्य यज्ञ करने का उपदेश दिया।
अब आगे वे धर्म नाम के अपूर्वरूप यज्ञ कर्म की उत्पत्ति कारण
जैसे बतावेंगे। उस प्रकारण को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

अवहिं तै उत्पन्न होहिं ये सवरे पानी ।
अन्न होहिं उत्पन्न तवहिं जब बरसे पानी ॥
पानी बिनु नहिं होहिं अन्न तुम निश्चय जानो ।
जल ही जीवन कहाँ सुवन बन नीरहिं मानो ॥
शुष्टि यज्ञ तै होति है, यज्ञ करम उत्पन्न है ।
विहित करम बिनु होहिं नहिं, यज्ञ याग सम्भव है ॥



प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है

[८]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरममुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अधापुरुषिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥६॥
(श्री भग०गी० ३ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पथ

वेदनि ने ही करे कर्म प्रकटित मुनि गावें ।
वेद एक आधार ज्ञान भंडार कहावें ॥
अविनाशी जो ब्रह्म वेद तिनि स्तव्य बनाये ।
नहीं पुरुष छूत वेद ब्रह्म अक्षर प्रकटाये ॥
ब्रह्म वेद के बाप है, कर्म वेद संभव कहे ।
यज्ञ कर्म तै होत है, ब्रह्म यज्ञ में नित रहे ॥

* फिर कर्म होता है ब्रह्म-वेद-से और वेद को तू अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान । इसीविधे सर्वगत जो ब्रह्म है, वह नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१५॥

हे धर्मे ! इस प्रकार सृष्टि चक्र चलता रहता है, जो पुरुष इसका अनुवर्तन नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पापी पुरुष इस लोक में व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है १२६

संसार की प्रत्येक वस्तु पाप और पुण्य से पूरित है, कोई पादमी ऐसा नहीं जिससे केवल पाप ही पाप या पुण्य ही पुण्य बनता हो। कुछ न कुछ जाने अनजाने में पाप पुण्य सभी से होते हैं, कोई ऐसा कर्म नहीं जिसमें पाप पुण्य दोनों सम्मिलित न रहते हों। कोई क्रिया ऐसी नहीं है जो पाप पुण्य से रहित हो। पाप और पुण्य से ही यह संसार चक्र चल रहा है। जैसे दो पहियों के बिना गाड़ी भनी-भौंति चल नहीं सकती, इसी प्रकार धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा ये दो संसार चक्की गाड़ी के चक्र हैं। इस संसार चक्र से छूट जाना पृथक् हो जाना, मुक्त हो जाना इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। जो पुरुष इस परम पुरुषार्थ के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है, उसी का जीवन तो अमोघ है सार्वक है, जो इसके लिये प्रयत्नशील नहीं है उसी का जीवन मोघ है व्यर्थ है। नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी किनारे लग जाय, उसका बहना बन्द हो जाय, वही किसी काम की है, जो बहती ही गयी, बहती ही गयी, वह किसी के क्या काम की। यह संसार चक्र यशमय है। यश करके जो खाता है, वह तो अमृत को खाता है, वह जन्म मृत्यु से छूट जायगा। जो यश किये बिना ही खाता है, वह अन्न थोड़े ही खाता है, पाप को खाता है, सजीव कीड़ों का भक्षण करता है। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक परम श्रद्धालु भक्त था, वह बड़ो ही श्रद्धा भक्ति से समागत साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा किया करता था। जो साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करते हैं, उनका नाम पुण्य प्रभाव से दूर-दूर फैल जाता है। जितनी अधिक कीर्ति अन्न दान से होती है, उतनी किसी भी दान से नहीं होती। उस अतिथि सत्कार करने वाले के यहाँ सदा १०१५ साधु-संत अतिथि बराबर आते ही रहते थे।

एक दिन एक साधु आये। गृहस्थी ने पूछा—“भगवन्! क्या बनाया प्रसाद पावेंगे या स्वयं पाक करेंगे?”

साधु ने कहा—“मैं तो स्वयं पाक करूंगा।”

गृहस्थी ने कहा—“क्या बनाइयेगा?”

साधु ने कहा—“अधिक भंडार करके आपको बप्ट देना नहीं चाहता। केवल खीर बना लूंगा। दस सेर दूध मंगा दोजिये।”

“साधु ने जो-जो भी सामग्री मांगी गृहस्थी ने उससे अधिक ही दे दी, कि संभव है समय पर कोई दूसरा अतिथि आ जाय, तो उसका सस्कार भी इसी के द्वारा हो जायगा। उस साधु ने अपने ही निमित्त जिह्वा स्वाद के निमित्त बहुत रचपच के प्रयोग दूध की सुन्दर खीर बनायी। खीर बनकर तैयार हो गयी। बड़े बाल में ठंडी होने के लिये उसने परोस ली। उसी समय एक दूसरे महात्मा आ गये। अब इस साधु के पेट में खलबली मच गयी। हाय! मैंने तो केवल अपने ही निमित्त खीर बनायी थी, अब यह दूसरा साधु आ गया। इसे भी खीर देनी पड़ेगी। किसी प्रकार इस साधु को यहाँ से टरकाना चाहिये।” यह सोचकर वह उन नवागत महात्मा के समीप गया और बोला—“अजी, महात्मा जी! आप यहाँ कहीं आ गये। यह तो ऐसे ही सट्ट-पट्ट गृहस्थ है। यहाँ से थोड़ी ही दूर अमुक गाँव में एक बड़ा अच्छा सद्गृहस्थ है। वहाँ आप चले जायें, वहाँ बहुत अच्छे माल मिलेंगे। शीघ्र ही जायें, नहीं, वहाँ भी भोजन खूब जायगा।”

महात्मा सिद्ध थे, उन्होंने परात में परसो खीर देख ली थी। वे समझ गये यह साधु स्वयं ही अपने आप सब खीर को खाना चाहता है। इसे भोग लगाकर अतिथि-अभ्यागतों को देना नहीं चाहता। उन्होंने कहा—“अच्छी बात है हम आगे ही चले जायेंगे।” यह कहकर वे अपना भोली ढंढा उठाकर चले दिये।

प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है १३१

वह साधु शीघ्रता से चौका में आया। उसने सोचा—शीघ्रता से खीर को खालू, नहीं फिर कोई दूसरा साधु आ जायगा।” यह सोचकर वह थाल को देखने लगा। थाल ठंडा तो हो गया था, किंतु उसने देखा, जितने चावल हैं, वे कीड़े की भाँति रंग रहे हैं। थाल में उसे सफेद कीड़े ही कीड़े दिखायी दिये। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझ गया। ये जो महात्मा आये थे, कोई सिद्ध पुरुष थे। मेरे ऊपर कृपा करके—मुझे उपदेश देने की—उन्होंने यह लीला दिखायी है।

वह दौड़कर महात्मा जी के समीप गया और दूर जाकर उन्हें रोका। साष्टांग प्रणाम करके उसने कहा—“प्रभो! मेरा अपराध क्षमा किया जाय, मैं बड़ा पापी हूँ। मैंने आपको लोभवश झूठा बहाना करके ढरका दिया। मेरे ऊपर कृपा कीजिये।”

महात्मा ने हँसकर पूछा—“क्या बात है?”

साधु ने कहा—“महाराज, खीर के चावल तो कीड़े हो गये हैं।”

महात्मा ने कहा—“अजी, आप किसी बात कर रहे हैं। साधु भोग तो भगवान् के भोग के निमित्त ही पाक करते हैं। भोग लगामे बिना वे पाते ही नहीं। भगवान् के भोग में कीड़े कैसे हो सकते हैं। आपने उसमें तुलसी दल छोड़ा कि नहीं?”

साधु ने कहा—“तुलसी दल तो नहीं छोड़ा महाराज!”

महात्मा बोले—“तुलसी छोड़े बिना प्रसाद कैसे हो सकता है।” अपने सालिगराम के बटुए में से तुलसी निकालकर कहा—“लो, इस तुलसी को छोड़ दो।”

साधु ने पैरों पर पड़कर कहा—“प्रभो! आप भी पधारो।”

महात्मा तो दयालु होते ही हैं, साधु के साथ-साथ चले आये। तुलसी दल के डालते ही खीर में एक भी कीड़ा दिखायी नहीं

दिया। साधु—ने पहिले थढ़ा पूर्वक उन साधु को दूति पूर्वक जिमाया। फिर जो बचा उसमें से गृहस्थों को उसके बच्चों को बेटे कर शेष अमृत तुल्य उस खीर को स्वयं पामा। देवताओं को अर्पण करने के अनन्तर जो बचता है वह अमृत है जो अपने ही लिये पकाया जाता है, वह देलने में अन्न भले ही लगे वह तो साक्षात् वाप है। इसीलिए वैश्य देव यज्ञ में अयशोय अन्न जे उडद, चना, मसूर, मटर, तेल में पके, मक्का, जुनरी आदि अन्न, वासी अन्न, खाने के पदार्थ बचा हुआ अन्न आदि निषेध है। इनमें पुण्य की मात्रा कम पाप की मात्रा अधिक होती है। पाप पुण्य भावना ही पर तो निर्भर है। चावल है बना कर दो चार दिन रख दो। सड़कर कीड़े पड़ जायेंगे। वे कीड़े बाहर से खोड़े ही आ गये। चावल के ही कीड़े बन गये। क्योंकि उनका मनुष्यभोग नहीं किया। देवता पितर अतिथियों को तुरन्त अर्पण नहीं किया गया। प्रत्यक्ष पाप रूप होकर कीड़े रूप में प्रकट हो गये।

सुकर्म यज्ञादि वेद से प्रमाणित होता है, कि यह सुकर्म है, यह सुकर्म है। वेद में कहा है—मनुष्य जो अन्न खाता है, वह उसका साधारण अन्न है, जो पुरुष इसे धकेला ही सेवन करता है, वह पान में छुटकारा नहीं पाता। क्योंकि वह उसका और देवताओं का मिला जुना अन्न है। जो अन्नानो पुरुष पापमय अन्न ग्रहण करता है, सच कहता है, वह उसका वध ही है। वह अन्न न तो अर्घ्यमा का पोषण करता है, और न मित्र का, अकेला मोजन करने वाला तो केवल पापी ही होता है।" इसीलिये वेद की आज्ञा को मान कर वेदोक्त यज्ञों में ही प्रवृत्त होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने विहित कर्मों के अनुष्ठान-यशकर्म—करने के लिये धर्जुन को आज्ञा दी तब

प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है १३३

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! यज्ञ कर्म पर ही आप इतना बल क्यों देते हैं ?”

भगवान् ने कहा—भाई धर्मधर्म का नियंत्रण करने वाला तो वेद ही है। वेमे तो संसार मे पापवृद्ध शास्त्र बद्ध है, किन्तु अपूर्व का साधन करने वाला वेद विहित कर्म ही है। इसलिये वाम धर्मार्थ में वेद ही प्रमाण है।”

अर्जुन ने पुछा—“वेद ही प्रमाण क्यों है ?

भगवान् ने कहा—इसलिये कि वह अपौरुषेय है। किसी पुरुष ने वेद को नहीं बनाया। जिस परमात्मा को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जिसका कभी क्षर नाश नहीं होता वही अक्षर है। अतः वेदों को प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं। वह तो स्वतः प्रमाण है। श्रुति में भी कहा है—“ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक ग्रंथ, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब परमात्मा के निःश्वास हैं। इसलिये वेदों का वचन प्रमाण है। वेदों को छियानवे हजार ऋचाएँ यज्ञों का ह्य प्रतिपादन कर रही हैं अतः वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं। इसलिये वेद विहित यज्ञों को करते ही रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—“यदि कोई वैदिक यज्ञों का अधिकारी घोर समर्थ होने पर भी यज्ञ नहीं करता तो उसे क्या दोष लगता है ? क्या वह परमार्थ वचन का अधिकारी नहीं हो सकता ?”

भगवान् ने कहा—“अरे, परमार्थ मोक्ष की बात छोडो, वह तो पुण्यपराधों के स्वर्गादि लोकों का अधिकारी नहीं हो सकता। वह तो पाप मय जीवन बिताने वाला है। क्योंकि यज्ञ कर्म न करेगा, तो उसे सदा सर्वदा अपनी इद्रियों की दृष्टि की ही चिन्ता लगी रहेगी। आज यह साग बने, आज यह पदार्थ

तैयार हो, आज ऐसा भवन बनाओ जिसमें गरमी में गरमी न लगे जाइँ में जाड़ा न लगे। आज ऐसा बाहन लाओ जिसमें शरीर में तनिक भी कष्ट न हो। साराश यह सदा शरीर सुख जितने मिले ऐसे द्रव्यादि की चिन्ता में मग्न रहेगा उस इन्द्रियों के रमण करने वाले का जीवन तो व्यर्थ ही है। मार्थक जीवन तो वही है जो मोक्ष के लिये प्रयत्नशील हो। जिसका लक्ष्य केवल शरीर सुख ही है, इन्द्रिय भोग प्राप्ति है, वह क्या जीवन है।"

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, वृष्टि धूम्र से होती है, विशुद्ध धूम्र यज्ञ से बनता है, यज्ञ की विधि वेद बताता है। यह परमात्मा द्वारा चलाया हुआ चक्र है। इस चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता। मनमानी घर जानी करता है। वह चाहे पशु-पक्षी हो, मनुष्य हो, धनी हो, निर्धन हो, संसारी बुद्धि वाला हो, निर्बुद्धि हो सब की एक ही गति होती है, वे ससार चक्र में घूमते ही रहते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में जाते रहते हैं। उनका जीना न जीना बराबर ही है। जीना तो उसी का सार्थक है, जिसने ज्ञान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने वैदिक कर्म काण्ड यज्ञ यज्ञादि पर इतना अधिक बल दिया तब अर्जुन को संदेह हुआ कि पहिले तो भगवान् ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा दो बता दिये हैं, और अब पूरा बल यज्ञ यज्ञादि कर्मों पर ही दे रहे हैं। कह रहे हैं—जो वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता, वह पापी है, तो इससे तो शुक आदि मुनि भी नहीं बच सकते। क्योंकि वे वलि वैश्व देव यज्ञ नहीं करते। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्यादि का तर्पण नहीं करते।

प्रभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है १३५
श्राद्ध नहीं करते। तब तो इनका भी जीवन व्यर्थ है। इसी
शंका का भगवान् जो समाधान करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे
करूँगा।

दृष्टव्य

ऐसे ही हे पार्थ ! जगत को चक्र सनातन ।
महा वेद ही सत्य वही श्रव पुरुष पुरातन ॥
होहि अवरतित चक्र चले अनुकूल न तातै ।
पालन नहिँ करतव्य करै सुख होवे जातै ॥
वे भोगी इन्द्रियरमन, पाप पंक में फँसे नर ।
वे तो जीवे व्यरथ ही, विहित करम ही सुपर घर ॥



आत्म तृप्त ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं

[६]

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मवृत्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कञ्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३॥
(श्री भग० गी० ३ अ० १७, १८ श्लो)

छप्पय

आत्मा ईं हे सत्य और सच अस्त कहिये ।
हे अव्यक्त अनादि आत्मा वेद बतावै ॥
जो आत्मा में रमन करे वह आत्माराम है ।
आत्मा में ही तू तब तिष्ठे फिर कौन काम है ॥
जाको नित ही आत्मरति, आत्मतुष्ट सन्तुष्ट है ।
ताईं जग में रह्यो किं, कहो कौन कर्तव्य है ॥

* परन्तु जो पुरुष आत्मवृत्त तथा आत्मरति है और सदा आत्म
में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है कि यह उसे
करना ही चाहिये ॥१७॥

इस सार में उस ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य से भी प्रयोजन नहीं, न
भक्तव्य से कोई प्रयोजन । उसका सम्पूर्ण प्राणियों में कुछ भी स्वार्थ
का सम्बन्ध नहीं है ॥१८॥

द्वितीय अध्याय में—भगवान् ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। तब अर्जुन ने कहा—“भगवन् ! आपके मन में तो सिद्ध यही हुआ कि कर्मकाण्ड की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है। इतना सब होने पर भी आप मुझको बार-बार क्षत्रिय धर्म का कर्म करने को-बुद्ध करने को-कह रहे हो यह कैसे उलटी बात है। मिलीबुली बात मत करो। जिसके लिये ज्ञान श्रेष्ठ हो, उसके लिये होता रहे। आप तो मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो जिससे मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूँ।”

कोई ज्ञानवान् उपदेशक होता तो कह देता—तेरे लिये तो भैया, मैं यही उचित समझता हूँ कि तू बुद्ध कर। किन्तु भगवान् उतावले उपदेशकों में नहीं है। वे अर्जुन को लक्ष्य करके मनुष्य मात्र को उपदेश दे रहे हैं अर्जुन नर है। वह समस्त सुपुत्रों का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये भगवान् सीधेता न करके शनैः शनैः उसे ऐसे समझाते हैं, जिससे पूरी बात उसके हृदय में बैठ जाय। पूरे विषय को हृदयंगम कर लें। प्रश्न इतना ही था “मेरे लिये आप, दो न बताकर एक निश्चित मार्ग बता दो।” इसका उत्तर यह था श्रमुक मार्ग तुम्हारे लिये हितकर है। किन्तु भगवान् ने मूल प्रश्न को छुआ ही नहीं। कहने लगे—“लोकैःस्मिन् द्विविधा निष्ठा” इस लोक में दो निष्ठायें हैं। प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ और। कोई बहरा आदमी था बेंगल लिये जा रहा था। मार्ग में उनके एक बहुत पुराने मित्र मिले। उन्होंने कहा—“राम-राम जो” बहरे ने शब्द तो सुने नहीं, झोठ हिलते हुए दिखाई दिये। उसने अनुमान लगाया कुछ पूछ रहे हैं। मैं बहरा हो गया हूँ, इस बात को वे कहना नहीं चाहते थे, उन्होंने अनुमान लगाया। यही पूछते-होगे वहाँ गये थे क्या लाये हो?”

इसलिये राम-राम के उत्तर में बहरे जी बोले—भ्रजो, वागार गया था, वेंगन लाया है।”

उस आदमी ने पूछा—“कहो, बाल-बच्चे सब मर चुके हैं?”
इसने फिर होठ हिलते देखे। शब्द के अनुमान किया—पूछ रहे होंगे वेंगनों का क्या करोगे।”

इसलिये बहरे बोले—“सब ससुरों का भुरसा बनाकर रोटी से खासंगे।”

“वह आदमी हंस पड़ा। प्रश्न कुछ उत्तर कुछ। भगवान् न तो बहरे है, और होते भी तो वे अपने बहरेपन को छुपाते नहीं। फिर उनसे जो कुछ पूछा गया उसका दूसरा कुछ उत्तर क्यों दिया।”

बात ऐसी नहीं है। वे दो निष्ठा बता कर पहिले यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि मैंने दाल-भात की मिलाकर खिचड़ी नहीं पकाई है। दाल पृथक् है, भात पृथक् है दोनों पृथक्-पृथक् हंडी में बने हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वाद को जीतने के लिये भात ही भात रूखा खाते हैं। कुछ ऐसे बीमार हैं, जिन्हें भात 'पचता' नहीं केवल पतली दाल ही दाल पीते हैं। किन्तु अधिकांश लोग ऐसे होते हैं, कि दाल भात को पृथक्-पृथक् पात्रों में परसा कर भी दाल और भात को युक्ति से मिला कर खाते हैं। इतना सिद्धान्त बताने के अनन्तर फिर भगवान् मूल प्रश्न का उत्तर देंगे। तस्माद् इसलिये भैया तुम तो दाल और भात को उचित मात्रा में मिलाकर खाओ। इसीलिये भगवान् ने ज्ञान, निष्ठा, कर्म निष्ठा दो बताईं। ज्ञानी लोगों को स्वाद से कोई प्रयोजन नहीं वे तो केवल सुसुखा को शांत करने के लिये जैसे-तैसे पेट भर लेना चाहते हैं। इसलिये स्वाद की अपेक्षा न करते हुए केवल अलीने भात से पेट भर लेंगे। कुछ स्वादु होते हैं, या बीमार

होते हैं। बें नमक मिरच खटाई जीरा हींग पड़ी स्वादिष्ट दाल को ही पीकर अपना काम चला लेते हैं। दोनों का भेद बताकर भगवान् कहते हैं इसलिये भैया तू दाल भात दोनों को भगवान् का भोग लगा दे। फिर भगवत् प्रसाद समझकर प्रेम पूर्वक दोनों को ही पाजा। इससे ज्ञानियों की भाँति तेरा पेट भी यथेष्ट भर जायगा, स्वाद भी आ जायगा और कुछ हानि न होगी। इसी का नाम निष्काम कर्म योग है।

इसलिये पहिले तो भगवान् ने वेद विहित यज्ञादि कर्मों की चड़ी प्रशंसा की कर्म निष्ठा का प्रतिपादन किया। फिर दो श्लोकों में ज्ञाननिष्ठ संन्यासी का स्वरूप बताया और अंत में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दिया इसलिये (तस्मात्) तुम तो आसक्ति छोड़कर कार्य कर्म को करो यहाँ प्रत्यक्ष निष्काम कर्म करने की आज्ञा है। यद्यपि ये तीनों ही वस्तुयें वे ही दोनों दाल भात हैं। एक भात ही खाकर रुसि का अनुभव करता है। दूसरे पतली दाल खाकर रोग को बढ़ने नहीं देते या झिझा को वृत्त कर लेते हैं। किन्तु तीसरा आदमी पेट तो भर ही लेता है, किन्तु भ्रष्ट को (भ्रष्टा को) स्वादिष्ट बनाकर उसका उपयोग करता है।

सूत जो कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् ने वेदविहित बलि वैश्वदेव तथा अन्य नित्य नैमित्तिक कर्मों की इतनी प्रशंसा की, और अंत में कह दिया जो इस यज्ञ चक्र में सहयोग नहीं देता, वेद-विहित कर्मों को नहीं करता, उसका जीवन तो व्यर्थ है।

इस पर अर्जुन ने कहा—‘तब तो भगवन् ! मैं इस युद्ध को छोड़कर वेदी बनाकर वेदविहित यज्ञानुष्ठानों में ही लग जाऊँ। स्वयं ही न लग जाऊँ, वे लँगोटी लगाये घर-घर से भिक्षा करते हुए कर्म से रहित शुक्रदेव आदि संन्यासी घूम रहे हैं, इन्हें भी

पकड़-पकड़ कर यज्ञ रूपी महात् शुभ कर्मों में लगा दूँ ?”

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—“अरे, भैया, तुम समझे नहीं। जो जन्मजात वैराग्यवान् है, जो अपने आत्मज्ञान में ही एत है। जो आत्मा में ही क्रीड़ा करते रहते हैं। जिन्हें रति के लिये किसी बाहरी वस्तु की अपेक्षा नहीं। ऐसे आत्मवान् आत्म-कोड़ आत्मरति आत्मतुष्ट ज्ञानी विरागी पुरुषों के लिये कोई शास्त्रीय बन्धन नहीं। उनके लिये कोई कर्तव्य नहीं वे यदि वैदिक कर्मकांड से विरत हैं, तो उनके लिये किञ्चित् भी दोष नहीं। वे तो स्वतः एत हैं। निष्काम कर्मों का शुभ फल—महा फल—तो उन्हें प्राप्त ही हो चुका। वे विधि के दास नहीं। शास्त्रीय आश्रमों से वे ऊँचे उठे हुए हैं, उनके लिये शास्त्रीय अनुशासन लागू नहीं।

अर्जुन ने कहा—“तो क्या ऐसे आत्मवान् पुरुष को कदापि कर्म करना ही न चाहिये ?”

भगवान् ने कहा—ऐसा भी मत कहो “कर्म करना ही न चाहिये” यह भी तो एक अनुशासन ही है। उनकी इच्छा पर पर छोड़ दो। ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी पुरुष, संन्यासी किसी की आज्ञा के अधीन नहीं होता, वह विधि निषेध दोनों से ही रहित है। उसके लिये न कोई कर्तव्य कर्म है और न अकर्तव्य। उसके लिये न कोई विहित कर्म है न अविहित। उसे इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि उसका ब्रह्मा से लेकर चोटों पर्यन्त, जंगम तथा स्वावर किसी भी प्राणी से—भूत मानव से—स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं। वह कर्म नहीं करता तो भी ठीक है और जब भरत की मति राजा द्रुपद को उपदेश देता यह भी ठीक है। इसलिये आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष से कर्म करने का तुम आग्रह कदापि न करना।”

अर्जुन ने कहा—“महाराज, फिर वही बात। फिर आप कर्म

आत्म तृप्त ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं १४१

को प्रपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बताने लगे । फिर कर्म त्यागी धीत-
रागी संन्यासी की प्रशंसा करने लगे । अर्च्छा उनको आप प्रशंसा
करें तो करते रहे । मुझमें क्या कहते हैं, मेरे भूल प्रश्न का तो
उत्तर दीजिये । दोनों मार्गों में से मैं किसे ग्रहण करूं ?”

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस पर भगवान् जो उत्तर देंगे ।
उसका वर्णन मैं आगे करूंगा ।

छापप

आत्मतृप्त जे पुरुष नहीं करतव है तिनिकुँ ।
दोऊ एक समान भेद है कलु नहि उनकुँ ॥
करमनि कुँ यदि करे नहीं बन्धन में आवै ।
नहीं करे तो वेद विप्र सुर दोष लगवै ॥
सर्वभूत में स्वार्थ को, तिन को नहि सम्बन्ध है ।
अज्ञानी के ही निमित्त, करमनि को ही बंध है ॥



तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर

[१०]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मसंयमं हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥३॥
(धो मग० गो० ३ अ० १६, २० श्लो०)

छप्पय

आसक्ति ही एक कर्म में बन्धन कारक ।
अनासक्त को कर्म बनें गये जग के तारक ॥
जाते तुम आसक्ति छोड़ि शुभ कर्म करो नित ।
करतब है यह कर्म न रासा फल में निज चित ॥
अनासक्त है के करे, कर्मनि कैं जो नेम ते ।
सो पावे पद कर्म करि, परमात्मा को प्रेम ते ॥

* इसलिये तू आसक्ति-रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्मों को कुशलता से करता रह । क्योंकि अनासक्त पुरुष ही कर्मों को करता हुआ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

देखो, कर्म के ही द्वारा जनक आदि परम सिद्धी को प्राप्त हुए हैं । इसलिये तुम्हें लोक संग्रह को ध्यान में रखते हुए कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये ॥२०॥

भगवान् ने भीता में दो निष्ठाये बतायी है। ज्ञानियों के लिये ज्ञानयोग और कर्म योगियों के लिये कर्मयोग। कर्म योगियों में भी दो भेद हैं कर्म योगी और निष्काम कर्म योगी। कर्म योगी तो वर्णायमी हैं। जिनको वर्ण धर्म और आश्रम धर्म का अत्यन्त आग्रह है। उनके मत में केवल वर्ण आश्रम रूपी धर्म का आचरण करते रहो, अपने-अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहो। मोक्ष प्राप्त हो जायगी। उनके मत में जो वर्णश्रम से इतर है। पंचम वर्ण वाले हैं, उन्हें सबसे पहिले धर्म कर्म करने वालों की सदा सेवा रूपी कर्म करते रहना चाहिए। चोरी, हिंसा, भूठ, अशौच, अनाचार का परित्याग करके श्रद्धा भक्ति के साथ समाज की सेवा रूपी कर्म में निरन्तर लगे रहना चाहिये। इससे क्या होगा, कि इस जन्म में जो तुमने सेवा रूप पुण्य कर्म किया है, इस जन्म में तो तुम वर्णश्रमी नहीं बन सकते। सेवा के पुण्य से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्गाय सुखों को भोग कर छोड़े पुण्य शेष रह जाने पर तुम्हारा जन्म वर्णश्रमी समाज में हो जायगा। तुम्हारा जन्म सदशूद्र कुल में हो जायगा। फिर भी तुम निरभिमान होकर सेवा रूपी कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहोगे, तो श्रन्त में मर कर स्वर्ग सुखों को भोगकर वैश्य हो जाओगे, वहाँ तुम अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहोगे तो मरकर स्वर्ग में पुण्य के प्रभाव से सुखों को भोगकर क्षत्रिय हो जाओगे। क्षत्रिय होने पर ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते-करते श्रन्त में गृहस्थी को त्याग कर वन में जाकर तपस्या रूपी धर्म को करते-करते मर जाओगे तो तुम्हें तप लोक की प्राप्ति होगी। वहाँ से कभी भी पुण्य क्षीण होने पर फिर जन्म होगा तो ब्राह्मणकुल में जन्म होगा। ब्राह्मण होने पर विधिवत् ब्रह्मचारी के कर्मों को करते

हुए शुद्धस्थी बनोगे, वहाँ श्रौतस्मार्त कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करते हुए वानप्रस्थी बनोगे, वहाँ भी नित्य नैमित्तिक कर्म वलि वैश्य देव तथा अग्नि होत्र को न छोड़ोगे। शास्त्र में जैसे वानप्रस्थ के कर्म बताये कि वर्षा के दिनों में मैदान में बैठकर पूरी वर्षा को सिर पर ले। जाड़ों में कण्ठ पर्यन्त जल में खड़ा होकर तपस्या करे। गरमी में धूप में बैठ कर चारों ओर अग्नि जलाकर तप करे। ऐसा करते-करते वह संन्यास का अधिकारी बन जायगा। तब अग्निहोत्र की अग्नि को प्राणामि जठरामि में विलीन करले और संन्यास धर्मों का कठोरता से पालन करे। कोई संग्रह न करे एक ग्राम में एक दिन रहे, किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे। व्याख्यान प्रवचन न करे। इस प्रकार संन्यासी के कर्मों को करते-करते उसे पूर्ण ज्ञान हो जाय तो फिर उसे किसी लोक में जाना न पड़ेगा। यही उसकी मुक्ति हो जायगी। यदि संन्यासावस्था में उसे ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ और बीच में ही सरीर छूट गया तो उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति होगी। वही ब्रह्मा जो उसके अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण कर देंगे और प्रलय-काल में वह ब्रह्मा जो के साथ युक्त हो जायगा। इसी का नाम कर्म मार्ग या कर्म योग है। इसमें इतनी बातें हैं।

१—वर्णाश्रम धर्म ही मुक्ति से मिल सकती है।

२—संन्यासी को ही मुक्ति मिल सकती है।

३—संन्यासी केवल ब्राह्मण ही हो सकता है।

४—वेद विहित श्रौत स्मार्त कर्म ही मुक्ति में कारण हैं।

अन्य पाखण्ड कर्म नहीं। इस मार्ग में भगवान् को चाहे मानो चाहे मत मानो कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस मार्ग में भगवान् का मानना गीण है वरुण और आश्रम विहित धर्म और वेदों को स्वतः प्रमाण मानना ही प्रधान है। इस मार्ग में कर्म करते-

करते अन्त में निष्काम बनकर मोक्ष लाभ करना है। यही उद्देश्य है।

दूसरा है निष्काम कर्म योग। इसको वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी दोनों ही कर सकते हैं। तुम जहाँ हो, जिस वर्ण में जिस आश्रम में हो, जिस स्थिति में हो वही रहो। इस मार्ग में यह आयह नहीं कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाओ ही। ब्रह्मचारी को सद्गुरु भाष्य का वरण करना ही चाहिये। गृहस्थ छोड़कर वानप्रस्थ में जाना ही है। वानप्रस्थों को सन्माय ग्रहण करना ही है। आप वर्णाश्रमी हैं, वर्णाश्रम में ही बने रहिये। अवर्णाश्रमी हैं, तो वहीं अपनी कुल परम्परा वंशपरम्परा की वृत्ति को करते रहिये। यदि ब्रह्मचारी है, गृहस्थ बनने की इच्छा नहीं है, तो वहीं रहकर ही निष्काम कर्म करते रहें। गृहस्थी हैं, गृहस्थ में रहें। वानप्रस्थ है संन्यासी हैं तो वहीं भी इस धर्म का अनुष्ठान करें। जिस कर्म को भी करें उसका फल न चाहें। उस ब्रह्म को-भगवान् को-परमात्मा को-अर्पण कर दें परमात्मा को चाहे साकार माने चाहे निराकार कोई अन्तर नहीं पड़ता। निराकार साकार दोनों ही मानें। जो भी कर्म करें निःसंग होकर आसक्ति रहित होकर करें। आप जहाँ हैं वही आपको निष्काम कर्म द्वारा मुक्ति मिल जायगी। चाहे जिस वर्ण, आश्रम, जाति तथा सम्प्रदाय के मानने वाले हों। आप संसार-सागर से मुक्त हो जायेंगे। यदि आप वेद विहित कर्मों में विस्वास करने वाले हैं। वेद के वलि बैरव देव श्रोत स्मार्त अन्य कर्मों पर श्रद्धा रखते हैं, तो इन कर्मों को बड़े प्रेम से श्रद्धा-भक्ति के साथ करें, अवश्य करें, किन्तु उन्हें निष्काम भाव से बिना किसी फल की इच्छा से करें उस दया में इसी निष्काम कर्म योग का नाम उपासना मार्ग होगा।

यदि आप वेद विहित कर्मकाण्डों के करने में असमर्थ हैं या अन्य किसी कारण से उन्हें नहीं कर सकते। आपको वेदानुसृत श्रीमद्भागवतादि पुराणों के कर्मों पर निष्ठा है, तुम्हारी सगुण साकार अवतारों के पूजन पर आस्था है, तो पांचरात्र आदि शास्त्रों के अनुसार भगवान् का पूजन करें। उनके नामों में निष्ठा है तो उनके नामों का श्रद्धामयि के साथ भक्ति मृदंग के साथ कीर्तन करें। उनके रूप में निष्ठा है, तो भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करें। उनको लीलाओं पर निष्ठा है तो उनकी लीलाओं का अभिनय देखा करें। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदन आदि भगवान् के सम्बन्ध की जिस निष्ठा में रूचि हो, उसे ही श्रद्धा-भक्ति से करें, किन्तु करें निष्काम भाव से। जो करें उसे भगवद्भरण बुद्धि से करें। मेरी इस पूजा से सर्वात्मा श्री हरि प्रसन्न हो जायें, उस दशा में यही निष्काम कर्मयोग भक्ति मार्ग के नाम से कहा जायगा।

इसमें इतनी बातें होंगी—

१—इस मार्ग में चाहे निराकार रूप में या साकार रूप में भगवान् को मानना परमावश्यक है।

२—क्योंकि यह पद्धति पुराण आदि शास्त्रों के सम्मत है और पुराणादि शास्त्र वेदों का अनुसरण करते हैं, इसलिये वेदों को अपौरुषेयत्व मानना होगा।

३—इसमें वर्ण आश्रम का कोई आग्रह नहीं। सभी वर्ण के सभी आश्रम के तथा भ्रवर्णाश्रम भी और स्त्रियाँ भी इस धर्म का पालन कर सकती हैं।

४—जो भी भगवान् की भक्ति करेगा वही उन्हें प्राप्त करेगा। (संसार चक्र से मुक्त हो जायगा) यदि आपको निष्ठा

तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर १४७

बाहरी पूजा में नहीं है, आप अपने भीतर की क्रियाओं को ही समर्पित करके अपने स्वरूप का ज्ञान करना चाहते हैं, विमुक्त बनने के इच्छुक हैं, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और ध्यानरूपी कर्मों द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं, तब यह निष्काम कर्मयोग अष्टाङ्गयोग के नाम से कहा जायगा।

यदि आप वेदों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते, किन्तु आपकी ईश्वर में किसी महापुरुष में अटूट दृढ़ निष्ठा है, और उनके द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं, तो गीताशास्त्र इस पंथ को भी निष्काम कर्मयोग में ही मानने को तैयार है। भगवान् का कहना है जो मुझे जिस भाव से भी भजता है उसी भाव से वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्मयोग के ये कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग दो भेद हुए यह तो कर्म निष्ठा हुई। अब दूसरी है सांख्यवादियों की ज्ञान निष्ठा या ज्ञानयोग है।

२—ज्ञानयोग—में कर्मों का कोई आग्रह नहीं, वरुण आश्रम का कोई आग्रह नहीं, कर्तव्य अकर्तव्य का कोई आग्रह नहीं। वे किसी के अग्रणी नहीं, देवता, वितर, श्रुति तथा मनुष्यों के लिये उनका कोई कर्तव्य नहीं। वे कर्मों से दूर रहते हैं। दूर रहने का भी आग्रह नहीं। कर्म भी कर लेते हैं, शरीर निर्वाह के लिये भिक्षा-वृत्ति करते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त करनी नहीं होती, वे तो जीवन्मुक्त ही हैं। वे आत्मरत, आत्मतुष्ट, आत्मक्रीड तथा आत्मवृत्त हैं। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ज्ञानयोगी विरले ही हैं।

इससे योग तीन प्रकार के हुए एक कर्मयोग दूसरा निष्काम कर्मयोग तीसरा ज्ञानयोग। भगवान् ने गीता में कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग को एक ही करके बताया है। उपनिषद् मार्ग ही निष्काम कर्मयोग है उसे ही भक्तियोग या भक्ति मार्ग कहें। गीता

मे अर्जुन से जिन दो निष्ठाओं का वर्णन किया है, उन्ही का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने श्रीमद्भागवत में उद्धवजी से स्पष्ट कहा है—“हे मेरे प्यारे उद्धव ! मैंने मनुष्यों के कल्याणार्थ तीन प्रकार के योग बताये हैं, एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग और तीसरा भक्तियोग। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई अन्य उपाय है ही नहीं।”

उद्धवजी ने पूछा—“भगवन् ! इन तीनों योगों के अधिकारी कौन हैं ?”

भगवान् ने कहा—“देखो, उद्धवजी ! जो लोग कर्मों से और उनके फलों से सर्वथा विरक्त बन गये हैं जो कर्मों को त्याग चुके हैं वे लोग ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके वित्त में कर्मों से और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख बुद्धि नहीं हुई है, वे सामान्य लोग कर्मयोग के अधिकारी हैं, किन्तु जो पुरुष न तो बहुत अधिक विरक्त हो हैं और न अत्यन्त आसक्त हो हैं तथा किसी पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से संयोग संस्कार सोभाग्यवश मेरी लीलाओं में, मेरी कथाओं में, मेरी सेवा आदि में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है वे लोग भक्तियोग के अधिकारी हैं। उनको उसी भक्ति योग के ही द्वारा सिद्धि मिलेगी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी।

आगे भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा—“उद्धव ! यह कर्म करना चाहिये, यह कर्म नहीं करना चाहिये आदि-आदि कर्मों के सम्बन्ध में जितने भी विधि नियम हैं वे तभी तक हैं, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो भयवा जब तक मेरी लीला कथा के श्रवण कीर्तन में श्रद्धा न हो जाय। इस प्रकार अपने वरुण और आश्रम के अनुकुल धर्म में स्थित रहकर यशों के द्वारा बिना किसी आशा और कामना के

तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर १४६

मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर, केवल निहित कर्मों का ही आचरण करता रहे, तो उसे न स्वर्ग में जाना पड़ेगा और न नरक में। अपने ही धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इसी शरीर में रहते-रहते, निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देता है और रागादि मलो से विमुक्त होकर परमपावन बन जाता है। इसी के द्वारा अनायास ही उसे विशुद्ध ज्ञान की अथवा मेरी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है।”

इससे स्पष्ट हो गया, कि निष्काम कर्मयोग को ही भक्तिमार्ग कहते हैं। गीता में भगवान् अर्जुन से इसी निष्काम कर्मयोग का उसे अधिकारी समझकर उसी को करने के लिये ज़ोर देकर कह रहे हैं। हे अर्जुन! तुम निष्काम कर्मयोग के ही अधिकारी हो इसलिये (तस्मात्) तुम्हें इसी योग का अनुसरण करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो! अर्जुन ने जब पूछा कि भगवन्! आप कभी ज्ञानयोग की प्रशंसा करते हैं कभी कर्मयोग की। मेरा ध्येय जिसमें हो, मेरे उपयुक्त जो निष्ठा हो उसे मुझे बताइये। तब भगवान् ने कहा—पहिले दोनों निष्ठाओं के रहस्य को तो समझ लो। दोनों के लक्षण तो ज्ञान लो। तब तुम्हें बताऊँगा तुम्हारे लिये कौनसी निष्ठा अनुकूल पड़ेगी।” ऐसा कहकर भगवान् ने पहिले कर्म मार्ग वैदिक कर्मकांड का उल्लेख करके यज्ञादि करने पर बल दिया। फिर कहा इन कर्मों को फल की इच्छा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से करते रहो, तो भी सिद्धि प्राप्त हो जायगी और ज्ञाननिष्ठा से भी हो जायगी। दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँच जायेंगे। दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। तब भगवान् ने कहा—“अर्जुन! तुम तो इसलिये फल विशेष की कोई भी अभिलाषा न रखकर-फलासक्ति

से भवैया शून्य होकर-कर्तव्य समझकर-कर्मों को निष्काम भाव से करते ही रहो ।”

अर्जुन ने पूछा—“निष्काम भाव से कर्म करते-करते हम ज्ञान निष्ठा के अधिकारी बन जायेंगे और फिर ज्ञान निष्ठा द्वारा मोक्ष प्राप्त होगी क्या ?”

भगवान् ने कहा—देखो, अज्ञानी को तो मोक्ष प्राप्त हो नहीं सकता । ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती ही नहीं । साध्य तो मुक्ति है । किन्तु ज्ञाननिष्ठा और निष्काम कर्मनिष्ठा ये दोनों पुष्पक निष्ठायें हैं । एक को दूसरे की अपेक्षा नहीं । ज्ञाननिष्ठ साधक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष प्राप्त कर सकेगा और फलसक्ति से शून्य निष्काम कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकेगा ।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! निष्काम कर्म निष्ठा द्वारा किसी ने संसिद्धि-मुक्ति-प्राप्त की भी है क्या ?”

भगवान् ने कहा—जी वयों नहीं । जनकादिकों ने कर्म निष्ठा द्वारा ही परम सिद्धि-मोक्ष-को प्राप्त कर लिया है । वे संन्यासी नहीं बने, घर-घर मधुकरों नहीं माँगते फिरे, उन्होंने कायाम नहीं पहिने फिर भी उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो गयी ।

अर्जुन ने पूछा—तब महाराज, निष्काम कर्मनिष्ठा श्रेष्ठ है, या कर्मों से संन्यास करके ज्ञाननिष्ठा द्वारा संसिद्धि को प्राप्त करना श्रेष्ठ है ।

भगवान् ने कहा—दोनों ही श्रेष्ठ है, दोनों का ही चरमलक्ष्य एक है, दोनों के ही द्वारा मुक्ति मिल जायगी । जो अज्ञानी हैं अप्रसिद्ध हैं, वे ही एक ही निष्ठा का आग्रह करते हैं । निष्काम कर्मयोगी कहते हैं, घर-घर से भीख माँगने में क्या रखा है, निष्काम भाव से कर्म करते ही रहना चाहिये । ज्ञाननिष्ठा वाले कहते हैं, ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती नहीं निष्ठा

तो एक ही ज्ञान निष्ठा है अतः कर्म के द्वारा ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की जाती है। यह केवल दुराग्रह भाव है। सांख्य-ज्ञान-और योग-कर्मनिष्ठा-एक ही हैं दोनों का चरम लक्ष्य भिन्न नहीं। दोनों के ही द्वारा संसिद्धि-मुक्ति-मिल जाती है !

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! यह तो ठीक है ज्ञाननिष्ठा और निष्कामकर्म निष्ठा दोनों ही श्रेष्ठ हैं, फिर भी दोनों में उन्नीस बीस कोई तो होगी ही।

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—“बड़े विचित्र श्रद्धहीन हो जा तुम। निष्ठाओं में भी उन्नीस-बीस होती हैं क्या ? सालिग्राम की सभा बटिया बराबर ही है। छोटी को पूजा करो चाहे बड़ी की, फल तो सभी समान देंगे।”

अर्जुन बोले—भगवन् ! सालिग्राम की बटियाँ समान होने पर भी उनमें भी भेद होते हैं, कोई वीर नृसिंह होते हैं, कोई लक्ष्मी-नारायण होते हैं, कोई हिरण्यगर्भ होते हैं।

भगवान् ने कहा—अरे, भाई निष्ठा का अर्थ स्थिति है। कर्म स्थिति वाला भी संसार से विमुक्त हो जाता है, कर्म त्यागी संन्यासी भी मुक्ति लाभ करता है। फिर भी तुम्हें उन्नीस-बीस का आग्रह ही है, तो निष्काम कर्मनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा से अधिक उपयोगी है।

अर्जुन ने कहा—अधिक उपयोगी कैसे है महाराज !

भगवान् ने कहा—देखो, संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य यह है, कि जीवों को जो यह संसार भय है, इससे उन्हें छुड़ाना। जो एक जीव को भी संसार बन्धन से छुड़ाता है—उसे भगवत् उन्मुख करता है, वह सबसे बड़ा उपकारी है। लोगों को अपने-अपने धर्मों में प्रवृत्त कराना उन्हें विपरीत मार्ग से हटाना यह कितना बड़ा उपकार है। इसी का नाम लोकसंग्रह है। लोग हमारे सम्पर्क में आते, हमसे कुछ सद्गुण सीखें यही लोकसंग्रह की

भावना है। जो गुम्फ गुम्फ बंठा रहे, सर्व कर्म परित्याग करके स्वयं मोक्ष के लिये प्रयत्न करता रहे, उससे तो यह लोकसंग्रही संसार की दृष्टि में उपयोगी ही है। इसलिये लोकसंग्रह की भी दृष्टि में रखकर निष्काम भाव से कर्मों को करते रहना अधिक उपयोगी है।"

अर्जुन ने पूछा—वैसे दोनों में से श्रेष्ठ तो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी ही है।

भगवान् ने कहा—फिर वही सुखता की बात ! अरे, बाबा हम कहते हैं, सत्त्वज्ञानी की दृष्टि में दोनों एक में हैं, ऐसा न होता तो परमज्ञानी सर्वस्व त्यागी परमहंस चक्र चूड़ामणि शुकदेव जी को ज्ञान प्राप्त करने भगवान् वेदव्यास राजर्षि जनक के समीप क्यों भेजते ! किसी-संन्यासी के पास भेजते उन्हें शुकदेव जी के योग्य समझा तभी तो उनके पास इन्हें भेजा था।

सुतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब भगवान् ने निष्काम कर्म-योगी को अधिक उपयोगी बताकर उसकी प्रशंसा की, तब अर्जुन को जिज्ञासा हुई निष्काम कर्म करने वाला अपने लिये उपयोगी भले ही हो। अन्य लोगों को उसका क्या उपयोग ?” इसी शंका का समाधान करते हुए भगवान् स्वयं अपना ही दृष्टान्त देते हुए जैसे बतावेंगे, उस विषय को मैं आगे बखें चहुँगा।

दृश्य

कर्म नहीं है परम कर्म ते सब कुछ पावे ।
साधक करे न कर्म परमपद किहि विधि पावे ॥
वितने अव तक भये जगद आदिक नृप ज्ञानी ।
अनासक्त है कर्यो कर्म ते नहि अमानिनी ॥
समुक्ति लोकसंग्रह कर्म, करी जगन मुक्त पाइगो ।
ज्ञान बिना तबि कर्म पू, अरजुन ! कि प्रद्विताइगो ॥

निष्काम कर्मयोग संसार को अधिक उपयोगी है

[११]

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ❀
(श्री० भग० गी० अ० २१, २२ श्लोक)।

द्विष्य

श्रेष्ठ पुरुष जो करे करे अनुकरन सकल जन ।
यासक तैसे करे करे स्वाके जो शुरुजन ॥
सम्मानित जो होहि लोकहित सदकर्मनिर्त ।
शिखा सधकूँ देहि स्वार्थ तजि त्याग भावत ॥
श्रेष्ठ जाइ माने बडे, जाकूँ करे प्रमान है ।
वरते ताकूँ अन्यजन, अधिक करे सम्मान है ॥

❀ श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है इतर जन वैसा ही वैसा आचरण करते हैं, बडे पुरुष जिन मान को प्रमाण मान लेते हैं, भग्य लोग भी उनका अनुवर्तन करते हैं ॥२१॥
हे पापे ! तुम मुझे ही देखो, तीनों लोकों में मुझे कुछ भी बर्तन नहीं है । मुझे कुछ पाने योग्य तथा न पाने योग्य भी वस्तु नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥२२॥

इस लोक को गलानुगत कहा गया है, प्रायः सभी लोग अपने बड़ों को जो करते देखते हैं, उसी को भाँख सूँढ़ कर करने लगते हैं। तर्क की कसौटी पर कस कर काम करने वाले तो कोई लाखों करोड़ों में विरले ही होते हैं। सर्व साधारण लोग तो अपने से बड़ों के अनुगत होते हैं। अच्छे अपने माता-पिता तथा गुरुजनों को जो अच्छा बुरा करते देखते हैं, वे स्वयं भी उनकी देखा देसी करने लगते हैं। इस विषय में एक कथा है।

एक पंडित जी थे, उनकी पंडितानी बड़ी भोली-भाली धर्म भोर थीं। पंडित जी कुछ ताकिक थे, पंडितानी ने कहा—“कल पंडित जी वासीड़ा है, खोललामाई की पूजा है, कल ताजी रसोई न बनेगी, वासी खानी पड़ेगी।”

पंडित जी ने कहा—“यह वासी खाना आदि डुकरिया पुरान की बातें हैं। मेरे लिये तो तुम ताजी रसोई बना देना, तुम वासीड़ा करती रहना।”

पंडितानी ने अपना अधिकार दिखाते हुए कहा—“तुम वेद की भाषा नहीं मानते। सदा से होता आया है। सब लोग करते आये हैं।”

पंडित जी ने हँसकर कहा—“सब वेद तुमने ही पढ़ लिये हैं। बताओ किस वेद में वासी खाना लिखा है। यह तो डुकरिया पुरान की बातें हैं।”

पंडितानी ने कहा—“तब सब लोग मूर्ख हैं, अकेले तुम ही चढ़े भारी पंडित बने हो। नव लोग जो करेंगे वही हमें करना पड़ेगा।”

पंडित जी ने कहा—“देवी जी! मैं तुम्हें मना थोड़े ही करता हूँ, तुम वासीड़ा तिसीड़ा जो चाहो सो करो, किन्तु मुझे तो क्षमा

कर दो। रही सबकी बात सो, लोग तो भेड़िया घँसान हैं, एक भेड़ ज़िंघर जाती है, सब उधर ही जाती है।”

पंडितानी ने कहा—“सब तो भेड़ हैं, अकेले आप ही बाध हो, आपको लोक विरुद्ध बात न करनी चाहिये। सब जो करें उसे मानना चाहिये।

पंडित जी ने कहा—“देखो, मेरी बात मानों लोग सर्व-साधारण तो भेड़िया घँसान हैं। पीछे चलने वाले हैं। अच्छी बात है, तुम नहीं मानती हो, तो मैं तुम्हें करके दिखा दूँगा। मैं भी कल शीतला देवी का पूजन करने चलींगा। गाँव भर में मुनादी करा दो, कि कल पंडित जी शीतला देवी का पूजन करने चलेंगे। सब लोग उनके पीछे ही चले, कोई भ्रामे न जाय।”

इस बात से सब को प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन बासी पकवान पानी पूजन की सामग्री लेकर पंडित जी चले, उनके पीछे-पीछे गाँव के सभी छोटे पुष्ट चले। मार्ग में एक गधा बैठा था, पंडित जी ने उसका पूजन किया, प्रदक्षिणा की साष्टांग प्रणाम किया, और भ्रामे बढ़ गये। सब लोगों ने भी पंडित जी का अनुकरण किया। सभी ने गधे का पूजन किया। किसी ने कुछ भी नहीं सोचा। कुछ लोग थोड़े तार्किक थे, उन्होंने पूछा—“पंडित जी! पहिले तो कभी गधे का पूजन नहीं होता था, आपने यह नई रीति कैसे चलायी।”

पंडित जी ने उन्हें तनिक डाँटकर कहा—“सुख लोग नहीं करते होंगे। गया तो शीतलामाई का वाहन है, जैसे शंकरजी की पूजा के पहिले नन्दी का पूजन करते हैं, वैसे ही शीतला देवी के पूजन के पहिले उनके वाहन गर्दभ का पूजन अवश्य होना चाहिये।”

पंडित जी ज्येष्ठ थे, थोड़े थे विद्वान् थे वे सब चुप हो गये। सब पंडित जी ने आकर पंडितानी से पूछा—“कहो, सब लोग

भेड़िया धंसान है या नहीं। पहिले तुमने कभी गधे का पूजन किया था ?”

पंडितानी ने कहा—“पहिले तो कभी नहीं किया था। क्या किसी शास्त्र में गधे का पूजन नहीं है ?”

पंडित जी ने कहा—“लोग तो बड़ों के पीछे चलने वाले होते हैं, इसीलिये बड़े लोगों को बहुत समझ सोचकर शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करना चाहिये। आचार्यगण जिस मार्ग से गये हों, उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। पाखंडियों के बचकर में न फँसना चाहिये। आचार्य शब्द का अर्थ ही यह है, जो ऐसे शालीय वचनों को छोट-छोट कर चुन लेता है, जिनमें सभी जीवों का उपकार हो, जो सबके परम हितकर हों, और उनका स्वयं भी आचरण करके लोगों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है। शीघ्र सभी उसी आचार्य के दिखाये हुए पथ से चलते हैं, उसी का अनुवर्तन करते हैं। अतः आचार्य को महापुरुष को बड़ी सावधानी से वर्तना चाहिये उसके ऊपर सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व है।”

तब पंडितानी ने कहा—“महाराज, तब तो बड़े लोगों की एक भूल समस्त संसार के लिये घातक बन जाती है।”

पंडित जी ने कहा—“हाँ, यह बात तो है ही। श्रेष्ठ पुरुष जनता के पथप्रदर्शक होते हैं, उन्हें भूलकर भी निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। सदा सर्वदा सदाचार का ही पालन करना चाहिये।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब भगवान् ने निष्काम भाव से बिहित कर्मों को करते रहने पर अधिक बल दिया, तो अर्जुन ने पूछा—“प्रभो ! मुझे भी आप निष्काम भाव से कर्म करते रहने की प्रेरित क्यों करते हैं ?”

इस पर भगवान् ने कहा—“तुम सर्वसाधारण सत्रियों के समान नहीं हो। तुम श्रेष्ठ पुरुष हो, नारायण के सत्वा तर हो।”

अर्जुन ने पूछा—“श्रेष्ठ होने से क्या हुआ ?”

भगवान् ने कहा—“हुआ यह है, कि श्रेष्ठों का कार्य संसार में अनुकरणीय होता है, लोग भीतरी भाव की ओर तो कम देखते हैं। ऊपर के कार्यों का अधिक अनुकरण करते हैं। तुम जगत् प्रसिद्ध परम विरुधात योद्धा धनुर्धर धर्मपरायण होकर युद्ध के समय—चाहें वेराग्य से ही सही—रण से पराङ्मुख हो जाओगे तो सर्वसाधारण के लिये एक आदर्श हो जायगा। भागने वाले निर्वैज डरपोक कायर जब युद्ध भूमि में भयभीत हो जाया करेंगे। तब यही कह दिया करेंगे, कि जब अर्जुन ऐसा शूरवीर विश्व विरुधात व्यक्ति रण से भाग गया, तो हमें क्या दोष लगेगा। इसलिये भैया, श्रेष्ठ पुरुषों को फूँक-फूँक कर पग धरना चाहिये। क्योंकि सर्वसाधारण लोग श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण किया करते हैं। जिस बात को वे प्रमाण मान लेते हैं, दूसरे लोग फिर स्वयं शास्त्रों की देखने का भ्रम नहीं करते, अथवा उनमें शास्त्रीय निष्ठय स्वयं करने की सामर्थ्य भी नहीं होती। वे तो बड़े लोगों द्वारा स्वीकृत प्रमाण को ही प्रमाण मानकर उनका अनुवर्तन करने लगते हैं।

अर्जुन ने कहा—“भगवन् ! तब तो बड़े लोगों को ज्ञान होने पर—कुछ कर्तव्य शेष न रहने पर भी—लोक संग्रह के लिये कर्म करते रहना चाहिये। ऐसा किसी ने किया है क्या ? इस विषय में कोई प्रमाण हो तो दोजिये।”

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—“अर्जुन ! यदि घर के कोने में ही किसी को शहद मिल जाय, तो फिर उसे शहद के लिये पर्वतों पर भटकना नहीं पड़ता। इस विषय में प्रमाण

खोजने बाहर कहाँ जायें, तुम प्रत्यक्ष में मेरा ही प्रमाण ले लो। तुम बताओ—मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष रह गया है क्या ?”

अर्जुन ने कहा—“नहीं भगवान् ! आप तो परिपूर्ण हैं, कर्तव्याकर्तव्य से सर्वथा पृथक् हैं। आप तो स्वतः तुम हैं।”

भगवान् ने कहा—“देखो, मनुष्य की साधारणतया कर्मों में तभी प्रवृत्ति होती है, जब उसे किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की कामना हो। कोई धन हीन है, उसे धन प्राप्त करने की कामना है, तो वह धन प्राप्ति के लिये कृषि वाणिज्य या भिक्षा आदि व्यापार रूपी कर्म में प्रवृत्त होगा। क्या तुम्हें विश्वास है, कि मुझे किसी अप्राप्त फल के पाने की अभिलाषा है ?”

अर्जुन ने कहा—“प्रभो ! आप तो आत्माराम हैं, आप तो कामना से रहित हैं।”

भगवान् ने कहा—“ऐसा होते हुए भी हे पार्थ ! तुम देखते ही हो, मैं रात्रि-दिन संसार के हित के कार्यों में लगा ही रहता हूँ। कर्मों में तत्पर बना ही रहता हूँ।”

अर्जुन ने कहा—“प्रभो ! आप ऐसा क्यों करते हैं ? जब आप स्वयं कृत कृत्य हैं, आपको कोई कामना नहीं, अभिलाषा नहीं, कुछ भी पाना नहीं तब फिर आप कर्म करके व्यर्थ में कष्ट क्यों उठाते हैं ? किसलिये सतत कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं ?”

सूत जी कह रहे हैं—“युनियो ! अर्जुन के ऐसे प्रश्न को सुनकर भगवान् जनादेन हँसे और उसके प्रश्न का विस्तार के साथ परम युक्ति तथा चातुरी के साथ उत्तर देने लगे। भगवान् ने जेते अर्जुन के इस गम्भीर प्रश्न का सरलता से उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब उसे दत्तचित्त होकर अवगल करने की कृपा करें।”

निष्काम कर्म योग ससार को अधिक उपयोगी है १५६

छप्पय

समुझावै श्रीकृष्ण-पार्थ ! मोक्ष ही देखो ।
मोक्ष का करतव्य न देनो मोक्ष लेखो ॥
तीनि लोक में मोक्ष नहीं कछु लेनो देनो ।
काह को सहि रानी न काह ते कछु लेनो ॥
फिरि हूँ करतव्य समुझि, करम कल अघ्यम चित ।
मेक करतो देखिके, होवे सब संसार हित ॥



श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायेंगे

[१२]

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदधुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ॐ
(श्री भग गी० ३ अ, २३, २४ श्लोक)

छाप्य

यदि हौं करिके करम नहीं आदर्श दिखाऊँ ।
हैं हौं करम विहीन सयनि कूँ जिहरी बताऊँ ॥
तो अनर्थ अति होहि सयहि करतय कूँ त्यागें ।
तजिके निज करतय करम तैं सवई भागें ॥
करें अनुसरन जगत जन, करतय तैं सपई डरें ।
हौं जैसे जैसे कलैं, सयहि अनुकरन तस करें ॥

* हे पार्थ ! क्योंकि मैं यदि सावधानों से कर्मों को न करूँ, तो भैया, फिर लोग सब प्रकार ग मेरे बर्तान का अनुकरण करते लगेंगे—सभी अकर्मण्य बन जायेंगे ॥ २३ ॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सभी लोक नष्ट हो जायेंगे, धीरे मैं सांकर्य दोष का बर्तान समझा जाऊँगा तथा इस सम्पूर्ण प्रजा का विनाशवर्ती कहा जाऊँगा ॥ २४ ॥

श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायेंगे १६१

जो लोग ऋषभदेव, जड़भरत के सदृश सदा सर्वदा ब्रह्म वृत्ति में ही रहते हैं, जिन्हें शरीर को सुधि नहीं भोजन की जल की शौच अशौच की कुछ विन्ता नहीं। जैसे भगवान् कपिल की माता देवहूति, तो ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञान सम्पन्न पुरुषों के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, किन्तु जिनको तनिक भी शरीर की सुधि है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी को भी सग्रह के ही निमित्त सहो-नित्यकामभाव से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये, क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कुछ किये रह नहीं सकता। जो ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष हैं, उनके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है। सर्वमाधारण पुरुष तो जड़ बुद्धि के हैं वे स्वतः पर-मार्थ की ओर बढ़ नहीं सकते, क्योंकि उनके ज्ञानचक्षु नहीं-ग्रन्धे हैं-ऐसे ग्रन्धे अज्ञानियों के पथप्रदर्शक ज्ञानी ही हैं। यदि ऐसे अंधों को पथप्रदर्शक भी घन दारा लंपट-वेपधारी ठग-परमाथ से रहित अंधे ही मिल गये, तो दोनों ही कुएँ में गिरेंगे। ऐसे पाखंडी स्वयं कुएँ में गिर जायें, तो कोई बात सो नहीं, किन्तु वे तो कामनी कालन के लोभी समाज को घटोरकर उसे भी अपने साथ कुएँ में गिरा देते हैं। यह संसार भी तो भगवान् का ही बनाया हुआ है, इसकी सेवा करना भी भगवान् की ही सेवा करना ही है। धूर्त पाखंडी-वेपधारी लंपट-लोगों को कुपथ की ओर न ले जायें, उनसे जनता को बचाना बड़े पुरुष का काम है। घतः शरीर का अनुसन्धान रहने तक भगवत् पूजा समझकर-निष्काम भाव से कर्मों को करते ही रहना चाहिये। संसारो लोभों को सुपथ पर चलाने के ही निमित्त अज अव्यक्त परमात्मा अनेक अवतार लेते हैं। असंख्य रूपों में आकर इस पृथ्वी को अघर्म से बचाते हैं, धर्म की संस्थापना करते हैं। लोग तो अंधानुकरण प्रिय हैं। ज्ञानी पुरुष कर्मों से निवृत्त हो जाय, तो बहुत से आलसी-डोंगी-

ज्ञानाभिमानी पुरुष-वेप वनाकर-घपने को ब्रह्म बताकर-कर्म हीन बन जायेंगे। समाज में अनाचार-अत्याचार-फैलावेंगे। समाज को कुपव की ओर ले जायेंगे। अतः श्रेष्ठ पुरुषों का परम कर्तव्य है, कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं-प्रभु पूजा-समझकर-ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये। जो स्वयं नकटे होते हैं, वे दूसरों को भी नकटा बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक ज्ञानाभिमानी होंगी आचार्य या। उसकी किसी कारणवश नाक कट गयी। अब वह नाचने लगा, झुड़ने लगा, गाने लगा, हँसने लगा। लोगों ने उसकी इस प्रसन्नता का कारण पूछा, तो उसने कहा—“ब्रह्मा, मुझे तो भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।”

लोगों ने कहा—“हमें भी भगवान् के दर्शन करा दें।”

उस नकटाचार्य ने कहा—“जब तक नासिका रहेगी तब तक भगवान् नहीं देखेंगे। इसी ओट में भगवान् छिपे हैं। नाक कटवा लो, मुझसे मंथ ले लो, भगवान् देखने लगेंगे।”

कुछ लोगों ने नाक कटवा ली, उस नकटाचार्य ने उनके कान में कह दिया। “अब तो नाक कट ही गयी। अब जुड़ने की नहीं। मलाई इसी में है, कि तुम भी नाचने झुड़ने लगो।”

लोगों ने भी सोचा—नकटा कहलाने की अपेक्षा तो भगवत् दर्शी कहलाना ही ठीक है। ये भी नाचने झुड़ने हँसने लगे। होते-होते नकटों का एक बड़ा भारी समाज बन गया। वे कुछ काम तो करते नहीं थे, जनता के ऊपर भार बन गये। माल उड़ति ओर घपने समाज को बढ़ाते थे। उस देश का राजा भक्त था, उनके यहाँ भी ये नकटे गये खूब हँसने खेलने ओर प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

राजा ने पूछा—“आप सब इतने प्रसन्न क्यों हैं?”

श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी शकम्भ्य बन जायेंगे १६३

वे कहने लगे—“अहाहा ! हमें साक्षात् भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।”

राजा ने कहा—“कृपा करके हमें भी दर्शन करा दें।”

उस नकटानार्थ ने कहा—“आप को दर्शन कैसे हो सकते हैं। भगवान् नाक की छोट में छिपे हैं। पहिले नाक कटवा लीजिये, हमसे मंत्र ले लीजिये, तब दर्शन होंगे।”

भगवान् के दर्शनों के लोभ से राजा नाक कटाने को तैयार हुआ। राजा का मन्त्रो बड़ा बुद्धिमान था, उसने राजा से कहा—“महाराज पहिले मैं नाक कटाकर मंत्र लेता हूँ, तब आप कटावें।”

राजा ने कहा ठीक है, मंत्री ने नाक कटवायी, तब उस नकटानार्थ ने कहा—“मंत्री जी ! अब हमारे समाज की लाज आपकी ही हाथ में है। नाक तो कट ही गयी, अब आप भी नाचिये-कुदिये। राजा को भी नकटा बनाकर हम सब मिलकर माल उड़ावेंगे।”

मंत्री ने पहिले से ही नाक जोड़ने वाले को चुना रखा था, तुरन्त टाँके लगवाकर अपनी नाक जुड़वा ली, और उन सब नकटों को पकड़ कर जेल में डाल दिया। उनमें निरर्थ १० सेर आटा पिसवाना, जो नहीं पीसता उनके कोड़े लगवाता।

इस प्रकार के नकटों के अनाचार से बचाने के निमित्त ज्ञानी-पुरुष को बिना किसी फन की इच्छा किये अपनी स्थिति के शत्रु-लोकोपकारक कर्मों को करते ही रहना चाहिये। बहुत से ज्ञानी पुरुष ज्ञान होने पर भी अपने कर्मों में लगे ही रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब अर्जुन ने यह सूझा कि आप स्वयं कृत-कृत्य होने पर भी कर्म क्यों करते रहते हैं। कर्म करके कष्टों को क्यों उठाते हैं, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—“अर्जुन ! यदि मैं कर्म न करूँ, तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।”

अर्जुन ने पूछा—“क्या अनर्थ हो जायगा भगवन् !
 भगवान् ने कहा—मेरे अनुयायी सब भालसी बन जायेंगे ।
 ज्ञानी तो कोई करोड़ों में एक बिरले ही होते हैं, नहीं तो सभी
 भक्तों से बचने का ही उद्योग करते हैं । भालस्य में पड़े रहना,
 सोते रहना, ऊँघते रहना कुछ न करना लोगों को सुहाता है ।
 इसीलिये मैं भालस्य रहित होकर—अतन्द्रित होकर—निरन्तर कर्मों
 में तत्पर बना रहता हूँ । मैं ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरी देखा-
 देखी मेरे ही भाग का अनुसरण करने लगेंगे । जो लोग हूँट-मुँट
 है, कर्म कर सकते हैं, कर्मों के अधिकारी भी हैं, वे भी कह
 देंगे—“कि इतने श्रेष्ठ पुरुष जब श्रीकृष्णचन्द्र जी ही कर्म नहीं
 करते, तो फिर हम क्यों कर्म करें ।

अर्जुन ने कहा—“मान लो, सभी आपके अनुयायी कर्मों को
 छोड़ ही दें, तो क्या दोष है ।”

भगवान् कहा—“कर्मों को सर्वथा छोड़ देना कोई—हँसी-खेल
 है क्या ? कर्तव्य कर्मों को छोड़कर वे निद्रा भालस्य में पड़े रहेंगे ।
 इन्द्रियों को वृत्त करने को कुकर्म करने लगेंगे । कुकर्मों से नरकों
 में जायेंगे । इस सबका दोष मुझे ही लगेगा, क्योंकि वे मेरे अनु-
 यायी होने के कारण ही मेरी देखा-देखी कर्तव्य कर्मों से विमुख
 बन गये । जब लोग कर्तव्य कर्मों से विमुख हो जायेंगे तो समाज
 में उच्छ्वन्नता बढ़ जायगी । वे ममस्त लोक बिनष्ट हो जायेंगे ।
 कर्म सार्वभौम, धर्मसार्वभौम, आश्रम सार्वभौम आदि बढ़ जायेंगे । इन
 सब अनर्थों का मूल कारण मैं ही माना जाऊँगा, मैं ही वर्णश्रंखला
 का कर्ता कहनाऊँगा । और सम्पूर्ण प्रजा के विनाश का कारण
 लोग मुझे ही कहेंगे । इसीलिये मैं अतन्द्रित होकर—निरालस्य
 होकर कुछ न कुछ कर्तव्य कर्म करता ही रहता हूँ । यद्यपि मैंने
 महाभारत में शस्त्र न उठाने की-मुझ न करने की—एक विशेष

श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायेंगे १६५

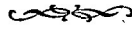
कारण वश-प्रतिज्ञा कर ली थी, फिर भी मैं हाथ पर हाथ रखे
बैठा नहीं रहा। तुम्हारे रख के हाँकने का ही काम मैंने ले लिया।
तुमने कहा था—मैं आपका शिष्य हूँ, अनुयायी हूँ मेरी, रक्षा करो,
जो मेरा कर्तव्य हो उसका मुझे उपदेश करो। उपदेश केवल मुख
से ही थोड़े दिया जाता है, कर्तव्य करके दिखा दिया जाता है,
यदि तुम मेरे सच्चे अनुयायी हो, मुझे श्रेष्ठ मानते हो तो मेरा
अनुवर्तन करो। जेमे मैं निरंतर कर्तव्य कर्मों में लगा रहता हूँ,
वैसे ही तुम भी कर्मों को न छोड़कर अपने कर्तव्य रूप कर्म में
निरत रहो।

इस पर अर्जुन ने शंका की और कहा—“भगवान् ! आप तो
सर्वसमर्थ हैं, भगवान् ! आप तो कर्म करने पर भी उनके फलों
में लिप्त नहीं होते, आपको कष्टवशोप नहीं लगता। किन्तु मे तो
आपके सदृश नहीं हूँ। कसा भी लोक संग्रह को दृष्टि से कर्म
करूँ, मुझे कर्तापने का अभिमान ही हो जायगा। अतः मैं
आपकी भाँति कर्म कैसे कर सकता हूँ।”

सुतजी कहते हैं—“मुनियो ! इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर
देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

करी न हौ यदि करम नष्ट अरु भ्रष्ट होहि तब ।
कोई करे अनर्थ अर्थहित लई मिई तब ॥
सती नारि नहि रहै करै सबई मनमानी ॥
ज्ञान न अरजन करै रहै सबई अज्ञानी ॥
संकरता जो दोष है, ताको हौ करता वनूँ ।
नष्ट होहि सवरी प्रजा, नाश करनहारो वनूँ ॥



अज्ञानियों में बुद्धि भेद पैदा न करें

[१३]

सक्ताः कर्मस्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरेत् ॥३॥
(श्री भग० गी० ३ अ० २५, २६ श्लो०)

छप्पय

वस्तु एक ई जाइ भाव ते बिप करि लेवो ।
भाव शुद्ध करि ताहि अमृत करिके पुनि सेवो ॥
अज्ञानी आसक्त करै कर्मनि कूँ जैसे ।
आसक्ती तबि करै कर्म ज्ञानी हूँ तैसे ।
करै लोभसंग्रह निमित्त, धडित हूँ सबरे कर्म ।
होहिं लित तिनमें नहीं, मूरख समझें नहिं मरम ॥

* हे भारत ! जेते अज्ञानी जन कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं, विद्वान् ज्ञानी को चाहिये वैसे ही अनासक्त भाव से कर्मों को करता रहे ॥२५॥

जो कर्मों में ही आसक्त है, ऐसे अज्ञानी पुरुषों में विद्वान् को बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये । उसे स्वयं योग युक्त होकर कर्म करते रहना चाहिये, और दूसरों से भी कराते रहना चाहिये ॥२६॥

दो व्यक्ति हैं, कर्म एकसा ही कर रहें हैं, किन्तु दोनों के फल में अन्तर है। पहिले राजपुत्रों को सभी विभागों में रहकर उनका काम सीखना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें कुछ दिनों तक साधारण सैनिक का वेप पहिन साधारण सैनिक के सामान कार्यरत होना पड़ता था। जिस समय राजकुमार साधारण सैनिकों के साथ उनका जैसा वर्तव करता है, अपने अधिकारी को अभिवादन करता है, उसको आज्ञा का पालन करता है, उस समय यह उसे यह भान रहता है, मैं राजकुमार हूँ, यह साधारण अधिकारी मेरा नौकर है, दूसरे मेरे साथी जो इसे अभिवादन कर रहे हैं, वे भय से नौकरी के लिये अर्थ प्राप्ति के लिये कर रहे हैं। मुझे वेतन का लोभ नहीं, मुझे वेतन चाहिये भी नहीं। मैं जो इसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ इसे प्रणाम कर रहा हूँ, केवल साधारण सैनिक का कर्तव्य क्या है, उस कर्तव्यपालन की दृष्टि से करता हूँ। राजकुमार और साधारण सैनिकों का गणवेप एकसा है, कार्य एकसा है, अनुशासन पालन एकसा है, किन्तु दोनों के फल में महान् अन्तर है। एक तो प्रजा का पालन में तत्परता से कर सके, मेरे द्वारा सभी कर्तव्यों का भली भाँति पालन हो सके, इस दृष्टि से शिक्षा ग्रहण कर रहा है। दूसरा सकाम भाव से-वेतन के लोभ से-कर्म में आसक्त है। ऊपर से देखने पर आसक्ति दोनों की समान होती है, किन्तु भावना दोनों की भिन्न भिन्न है।

वनवास के समय पांडवों के साथ द्रौपदी भी थीं, जब बारह वर्ष का वनवास समाप्त करके एक वर्ष का अज्ञातवास करना था, तब सभी वेप बदल कर बिराट्ट के यहाँ नौकरी करने लगे। द्रौपदी ने बिराट्ट राजा की रानी से कहा—“मैं जाति की संरक्षी (भाइन) हूँ, आपके यहाँ नौकरी कलगी, किन्तु मेरी तीन

दाते हैं—'एक तो मैं किसी के पैर नहीं धोऊँगी, किसी का उच्छिष्ट भोजन न करूँगी। तीसरे कोई पर पुरुष मुझसे छेड़-छाड़ करेगा तो उसे आपको दंड देना पड़ेगा। रानी ने ये बातें मान लीं और उसे अपने यहाँ नौकरानों रख लिया। महारानी द्रौपदी साधारण नौकरानी जो सब सेवा का कार्य करती थीं वे भी उन्हीं की भाँति सब कार्य करती थीं। जूटे बतैन मलती थी, रानी के शरीर में तैल मर्दन करती, उन्हें न्हूलाती धुलाती, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करती, किन्तु अन्य नौकरानियों के फन में और इनके फल में बहुत अन्तर था यद्यपि अन्य नौकरानियों की भाँति मासिक वेतन भी वे लेती थीं, किन्तु अन्य नौकरानी सोम-वश भोग के लिये वेतन लेती, ये सेना चाहिये इसलिये लेती थी। अन्य नौकरानी भयवश उनकी आज्ञा का पालन करती, किन्तु ये कर्तव्य समझ कर करतीं। अन्य संरन्धी स्वाद के लिये राजा आदि पर पुरुषों का उच्छिष्ट भोजन करती। ये उसका परि-त्याग कर चुकी थी। अन्य दासियाँ राज पारवार के पुरुषों को रिझाने के लिये—उनसे पारितोषिक पाने के लिये—उनकी नीच से नीच सेवा करती, उनके चाहने पर अपने शरीर को भी अर्पण कर देती, किन्तु ये इन कामों से सदा सर्वदा दूर ही रहतीं। कीचक ने अन्य दासियों की भाँति इनसे भी अनुचित कार्य कराना चाहा, किन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।

दूसरे आदमी द्रौपदी जी की रानी की सेवा में आसक्त देखते तो वे इन्हें भी और सब दासियों की भाँति महल की दासी ही मानते क्योंकि इनके ऊपरी आचरण सब साधारण दासियों जैसे ही थे, किन्तु भीतर में बहुत अन्तर था, भीतर वे अपने को इस बिराट महारानी से भी श्रेष्ठ समझती थीं। इसी प्रकार जैसे

अज्ञानी सकाम-कर्मों में आसक्त होकर काम में लगे रहते हैं। वैसे ही निष्काम कर्म योगी विद्वान् की लोक संग्रह की दृष्टि से सकामियों की भाँति कर्मों में लगा रहता है, किन्तु दोनों के फल में बहुत अन्तर है। वह भोगों में आसक्त रहने के कारण भोगों को प्राप्त करता है, ज्ञानी अनासक्त होने के कारण निष्काम भाव से उन्हीं कर्मों को करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन मुक्ति के सुख का उपभोग करता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि कैसा भी लोक संग्रह की दृष्टि से मैं कर्म करूँ, मुझे कष्टस्व अभिमान ही जायगा। इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—“देखो, भारत ! कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। उन कर्मों में जो अभिनिवेश है, वही है बन्धन का कारण है। बहुविधियाँ नाना रूप बनाकर वर्तित्व करता है, कभी तो वह राज कर्मचारी बनकर दूसरों पर आज्ञा चलाता है, कभी स्त्री वेप रसकर स्त्रियों की भाँति हाव भाव कटाक्ष चलाता है। कार्य सब स्त्रियों के जैसा ही करता है। अनजान लोग दूर से देखें, तो उसे अन्य स्त्रियों की भाँति स्त्री ही समझें, किन्तु इस व्यवहार से वह स्त्री तो नहीं बन जाता। इसी प्रकार लोक संग्रह की इच्छा से कर्म करने वाले विद्वान् की कर्मों में आसक्ति नहीं हो सकती। इसलिये जैसे कर्मसिक्त पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये। अन्तर इतना ही है, कि कर्मों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। इस पर अर्जुन ने शंका की—“भगवन् ! कर्म तो बन्धन कारक होते ही हैं। क्रोयले की दलाही में हाथ काले हो ही जाते हैं, अतः लोक संग्रह ही अभीष्ट हो, तो लोगों की मोक्षिक उपदेश कर दिया करें, कि आप लोग अपने कर्तव्य कर्मों से विमुक्त

‘न हों, कर्मों को करते ही रहें। स्वयं कर्मों से दूर ही रहे।’

इस पर भगवान् ने कहा—“देखो, भैया! इस संसार में अधिकांश लोग कर्मसिद्ध ही हैं। इन कर्मसिद्ध अज्ञानी पुरुषों को आप कर्म त्याग का उपदेश दें, तो न तो ये संन्यासी ही बनेंगे न कर्म करने वाली हो रहेंगे, उभय भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे उपदेश देने वाले को भी दोष का भागी होना पड़ेगा। इसलिये कर्मसिद्ध अज्ञानी पुरुषों में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। रही स्वयं कर्म न करते हुए, उन्हें कर्म करते रहने को उपदेश की बात सो यह भी उचित नहीं। लोग केवल उपदेशों के उपदेश को ही सुनकर उसके अनुसार कर्म करने नहीं लगते, यह भी देखते हैं, कि इसका स्वयं का आचरण कैसा है। इसलिये अज्ञानी विद्वान को चाहिये, कि जैसे वे सकाम भाव से कर्मों में आसक्त रहते हैं, वैसे ही स्वयं निष्काम भाव से उनमें आसक्त-सा लगा रहें।

अबु ने कहा—तब तो महाराज, यह दम्भ हुआ कि आसक्त तो नहीं है, किन्तु लोगों को आसक्त की भाँति दिखावे।”

भगवान् ने कहा—अरे, भाई आसक्त की भाँति दिखाने से यह अभिप्राय नहीं कि उनके सम्मुख डोंग करे। कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से बिना फल की इच्छा से ईश्वरार्पण बुद्धि से लोक संग्रह के निमित्त करता रहे, उन्हें छोड़ने का आग्रह न करे। विद्वान् ही कर्मों को छोड़ देंगे तो सुख लोग तो कर्मसिद्ध होने के कारण पथभ्रष्ट धम हो जायेंगे। कर्म एक से होने पर भी मन की भावना तो दूसरी हो रहती है। कर्म ऐसे ही करने चाहिये। इसलिये योगी पुरुष युक्त होकर-सम्यक् प्रकार से समाहितचित्त से स्वयं आचरण करता हुआ प्रीति पूर्वक उन्हें भी कर्मों में लगाने रहने की प्रेरणा देता रहे। आज सकाम भाव से कर

अज्ञानियों में बुद्धि भेद पंदा न करें १७१

रहे हैं, शनैः-शनैः निष्काम भाव से भी करना सीख जायेंगे ।
सर्वथा कर्म न करने से तो पतित हो जायेंगे । कतुत्वाभिमान
न हो तो कर्म बिगाड़ नहीं सकते ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो इसी बात को स्पष्ट करते हुए
भगवान् अर्जुन से जो कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा ।

छप्पय

कर्मनि में आसक्त पुरुष जो है अज्ञानी ।
बुद्धि भेद नहीं करे मगहुँ तिनमें नर ज्ञानी ॥
शास्त्र विहित जो कर्म करे तजि जीवन हिंसा ।
निन्दे तिनहुँ नहीं प्रेम तो करे प्रशंसा ॥
स्वयं शास्त्र सम्मत करम, करे करावे सवनिता ।
कर्मनि तो निरस्त है, अनासक्त वनि फलनिता ॥



कर्म तो प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं

[१४]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥
तत्त्वविचु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥१४॥

(श्री भग० गीता ३ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

कौन कर्म कूँ करे प्रकृति ही कर्म करावे ।
जैसी जाकी प्रकृति काम तैसे करावे ॥
सात्विक राजस और तामसिक गुन जितने हैं ।
उनतैं होविं कर्म भेद गुनके उत्तने हैं ॥
अहंकार मोहित भयो, जिनको, अन्तःकरन है ।
मैं करता हूँ कर्म को, मानैं उनको भरम है ॥

॥ कर्म तो भैया ! सभी प्रकृति के गुणों द्वारा अपने आप ही हो रहे हैं । अहंकारी-विमूढात्मा पुरुष-व्यर्थ में ही "मैं करता हूँ" ऐसा मान लेता है ॥२७॥

है महाबाहो ! जो गुण और कर्म के विभाग को जानता है, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष इस बात को मानकर आसक्त नहीं होता, कि ये सम्पूर्ण गुण गुणों में बँट रहे हैं ॥२८॥

सत्त्व रज और तम जब ये तीनों गुण सर्वथा सम हो जाते हैं तभी समभो प्रकृति अब अपने यथार्थ रूप में आ गयी। तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है, साम्यावस्था में वह निर्व्यापार बनी रहती है, कोई भी संसार का कार्य नहीं होता। जब प्रकृति के गुणों में क्षोभ होता है—गुणों में विषमता आती है—विकृति होती है, तभी संसार का व्यापार चालू हो जाता है। प्रकृति में क्षोभ क्यों होता है जी। मायावी की इच्छा से। यह मायावी कोन है। महेश्वर—परब्रह्म—ही सबसे बड़ा मायावी है। उसे क्षोभ करने की क्या पड़ी? क्यों वह संसार के व्यापार में प्रवृत्त होता है—यह भी उसका अपना स्वभाव है। सबका स्वभाव दुस्स्थिज है। यह संसार के सब व्यापार प्रकृति के ही द्वारा चल रहे हैं। सत्त्व प्रधाना प्रकृति कहाली है रज प्रधाना को माया कहकर पुकारते हैं, और तम प्रधाना को अज्ञान—अज्ञान—कहते हैं। एक ही के तीन नाम है। समस्त कर्म इन्हीं के द्वारा अपने आप हो रहे हैं। यह अहकारी प्राणी व्यर्थ में ही बिना बात अपने को कर्ता माने घेठा है।

एक राज.पथ पर गाड़ी जा रही थी। उसके नीचे एक कुत्ता भी चल रहा था। किसी ने कुत्ते से पूछा—“कूकर जी! आप गाड़ी के नीचे क्यों चल रहे हैं?”

कुत्ता बोला—“गाड़ी को चला रहा हूँ, मैं न चला, तो गाड़ी कैसे चलेगी?”

गाड़ी हाँकने वाले गड़बारे ने कुत्ते की बात सुनी और उसके एक पैना कसके मारा। कूकरदेव कूँ कूँ करते कूदकर कोने में खड़े हो गये। गाड़ी फिर भी चलती रही। सब उस कूकर का भ्रम दूर हो गया, कि गाड़ी तो बैलों द्वारा स्वतः चल रही है। मैं चलाता हूँ, यह मेरा मिथ्याभिमान था।

आप सोचें—मनुष्य एक कण पृथ्वी बना सकता है ? एक बूँद पानी का निर्माण कर सकता है ? एक अग्नि विस्फुलिंग उत्पन्न कर सकता है ? वायु की लहर बना सकता है ? वह घास से बिना गौके पेट में गये दूध बना सकता है ? अन्न से बिना पेट में गये एक कण बीर्य, एक विन्दु रज बना सकता है ? मनुष्य कुछ नहीं कर सकता । प्राकृत वस्तुओं में ही स्यूनाधिक मित्रावट करके अर्हकार करता है, मैंने वाष्पयान बना लिये मैंने वायुयान बना लिये, मैंने आकाशवाणी का आविष्कार कर लिया । अरे, बाबा ये पदार्थ तो सब प्रकृति जन्म है, अपनी ओर से कोई नवीन भूत बनाते, तब तुम्हारा बनाना भी कहा जाता । जिन हाथों से तुम बनाते हो, वे भी प्रकृति निर्मित हैं, जिस बुद्धि से विचार कर बनाते हो, वह भी प्रकृति का विकार ही माय है । पुरुष के शरीर में प्रकृति की प्रेरणा से बीर्य विन्दु बनते हैं, स्त्री की देह में प्रकृति की प्रेरणा से रज बनती है, दोनों की प्रकृति प्रेरित करके गर्भाधान कराती है, प्रकृति ही उसे पेट में बढ़ाती है । प्रकृति जन्म प्रसूति मासति उसे गर्भ से बाहर कर देती है । पोषण के लिये प्रकृति ही माता के स्तनों में दुग्ध उत्पन्न कर देती है । प्रकृति ज्यों-ज्यों उसे बढ़ाती जाती है, त्यों-त्यों उसमें वाल्य, कौमार, पीमंड, किशोर, युवा आदि प्राकृतिक अवस्थायें और उनके अनुकूल ही हाव-भाव कटाक्ष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं । बोज में अनुकूल प्राकृति परिस्थितियाँ होने पर स्वतः ही अंकुर उत्पन्न हो जाता है । प्रकृति की निमित्त बनाकर मायावी महेश स्वयं ही क्रीड़ा कर रहा है । इसे जानी ही समझकर प्रमुदित होता है, अजानी अपने को कर्ता मानकर मोहित हो जाता है, दुखी बन जाता है । जानी और अजानी में अन्तर इतना ही है । जो कुछ हो रहा है प्रकृति के द्वारा स्वतः ही हो रहा है । कहेन्द्र

मिथान बैठने का ही नाम साधन है।

सूत जी कहते हैं—“मुनियो ! जब अर्जुन ने यह शंका की कि कर्म कैसे भी किये जायें कर्ता को उन किये हुए कर्मों का कुछ तो फल भोगना ही पड़ेगा। इस पर भगवान् उन्हें समझाते हुए कह रहे हैं—“अर्जुन ! कर्म कौन करता है।”

अर्जुन ने कहा—कर्म को तो कर्ता ही किया करता है।

भगवान् ने पूछा—कर्ता कौन है ?

अर्जुन ने कहा—“जैसे मैंने युद्ध किया, तो युद्ध का कर्ता उसके फल का भोक्ता मैं ही हुआ।”

भगवान् ने कहा—“युद्ध तुमने किया, या धनुष बाण ने किया ?”

अर्जुन ने कहा—“धनुष बाण भी तो मेरे ही हैं।”

भगवान् ने कहा—“तुम्हारे कैसे हैं, धनुष तो वाँस का है उसकी डोरी तार की है, बाण लकड़ी और लोहे का है।”

अर्जुन ने कहा—“भले ही इन वस्तुओं से बने हों, चलाने वाला तो मैं हूँ।”

भगवान् ने कहा—“तुम कहीं चलाने वाले हो, हाथ चलाता है।”

अर्जुन ने कहा—“हाथ भी तो मेरा ही है।”

भगवान् ने कहा—“हाथ तुम्हारा कैसे है ? वह तो मांस का है भज्जा, शस्त्रिय, रक्त आदि से निर्मित है।”

अर्जुन ने कहा—हैं तो मेरे ही शरीर का एक अंग।

भगवान् ने कहा—“शरीर तुम्हारा कैसे है, वह तो तुम्हारे माता-पिता के रजबीर्य से निर्मित है।”

अर्जुन ने पूछा—“निर्माण किसने कराया ?”

भगवान् ने कहा—“प्राकृत वस्तुओं से प्रकृति की प्रेरणा से समस्त कर्म माया के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं।”

अर्जुन ने पूछा—“फिर लोग यों क्यों कहा करते हैं, कि यह मैंने किया ?”

भगवान् ने कहा—“ज्ञानी ऐसी बात कभी नहीं कहता। किन्तु जिनका अंतःकरण अहंकार से अत्यन्त विमूढ़ बन गया है, वे ही भ्रमजन ऐसा कहते हैं, कि मैं कर्ता हूँ। वे ही ऐसा मानते हैं, कि यह कार्य मेरे द्वारा किया हुआ है। प्रकृति के जो कार्य कारण रूप विकार हैं, उनके द्वारा जो लौकिक वैदिक आदि कर्म सम्पन्न होते हैं, उन कर्मों को अनात्म में आत्म सुद्धि करने वाले विमूढ़ पुरुष अपना किया हुआ मानते हैं, किन्तु विद्वान् ऐसा नहीं मानते।

अर्जुन ने पूछा—विद्वान् कौन मानते हैं ?

भगवान् ने कहा—विद्वान् तो यही समझता है, कि पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं पाँच ही उनके विषय हैं, वे इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रकृति की प्रेरणा से वर्तती रहती हैं। जब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्त हो रही हैं, तो फिर वह अपने में कर्तृत्व का अभिनिवेश करेगा ही क्यों ? किन्तु इसे वही विद्वान् समझ सकेगा जो गुण कर्म के विभाग को जानता है।

अर्जुन ने पूछा—“गुण कर्म का विभाग जानने वाला किसे कहते हैं ?”

भगवान् ने कहा—अहंकार के आश्रय हैं वेह, इन्द्रिय और अन्तःकरण। मैं मोटा हूँ, मैं दुबला पतला हूँ। मेरी कर्मेन्द्रियाँ प्लुट हैं, असमर्थ हैं। मेरा मन शान्त दुखी है सुखी है, मेरा चित्त विभ्रित हो गया था, अब चित्त प्रसन्न है, मेरी बुद्धि विलक्षण है। आदि-आदि अहंकार सदा वेह इन्द्रिय और अन्तःकरण के आश्रय से ही होता है। इन देहादि के जो व्यापार हैं वे ही कर्म

कर्म तो प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं १७७

कहुलाते हैं। इन गुण कर्मों का जो विभाग कर दे। यह जड़ है चेतन्य है यह विकारी है यह निर्विकार है। इसका यथार्थ स्वरूप जानता है, वह गुणकर्म विभाजक तत्त्ववेत्ता है। वह प्रकृति के क्रिये हुए गुणों में और कर्मों में अपने की कर्ता नहीं मानता।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो! यहाँ तक तो भगवान् ने यह बताया कि कर्म तो प्रकृति द्वारा होते ही रहते हैं, उन्हें न करने का और करने का दुराग्रह अज्ञानी ही करते हैं। तानी तो साक्षी रूप से उन्हें देखता हुआ उदासीन भाव से कर्तव्य कर्मों को करता रहता है। वह दुराग्रह नहीं करता कि कर्मों को छोड़ना ही चाहिये, किन्तु असं पुरुष आलसी अकर्मण्य न बन जायें, उनमें बुद्धि भेद न हो जाय, इसलिये निष्काम कर्मों की पूर्ण ज्ञानी होने पर भी करता ही रहता है। यही निष्काम कर्मयोगी की विशेषता है। इसका वचन भगवान् प्रागे करेंगे।

छप्पय

किन्तु तत्त्ववित गुण विभाग कृं विधिवत् जानें।
जानें कर्म विभाग महाबाहो! यह मानें ॥
वरति रहे गुन गुननि आत्मा इतत् न्यारो।
हे अतंग निरलेप अकतां नित्य विचारो ॥
मन् इन्द्रिय चित बुद्धि सब, विषयनि में वरतत रहत।
होयै नहि आसक्त सुनि, शुद्ध बुद्ध आत्मा सतत ॥



ज्ञानी पुरुष अज्ञों की कर्मों से विचलित न करे

[१५]

प्रकृतेर्गुणसंभूदाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान्कृत्स्नविदो भन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ॐ॥
(श्री भग० गी० ३ अ० २६, ३० श्लो०)

छप्पय

प्रकृति गुणनि में लिप्त अज्ञ नर कर्म करे जो ।
गुण कर्मनि आसक्त कर्म फल हित चरते सो ॥
चरति रहे गुण गुणनि रहस्य न जाको जाने ।
फिरि हूँ श्रद्धा सहित वेद शास्त्रनि कूँ माने ॥
तिनि तेँ कर्म छुड़ाइके, नहिँ विचलित ज्ञानी करत ।
छोड़ो कर्म सकाम तुम, नहिँ तिनि तेँ हठपरा कहत ॥

* ये प्रकृति के गुणों से सम्भूट पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त रहते ही हैं, ऐसे भक्ती-भक्ति न समझने वाले घन पुरुषों को भक्ती-भक्ति मानने वाला विद्वत् पुरुष विचलित न करे ॥२६॥
आध्यात्मचित्त से मुक्तमें सम्पूर्ण कर्मों को समर्पण करके आत्मा-रहित निर्मम तथा संतान-रहित होकर मुक्त कर ॥३०॥

ज्ञानी पुरुष अज्ञों को कर्मों से विचलित न करे १७६

कर्म के आधार पर ही यह सुष्टिचक्र चल रहा है। प्रभु की प्रेरणा से ही प्रकृति सब कर्मों को करा रही है। प्राणी गुणों के प्रवाह में ऐसे बह रहे हैं, कि उन पर कर्म किये बिना रहा ही नहीं जाता। तुम उनको बहुत समझाओ कि यह कर्म बन्धनकारक है, इससे संसार में पुनः पुनः आवागमन होगा, जन्म मृत्यु के चक्कर में फँस जाओगे, किन्तु लोग मानते ही नहीं। हम कर्म न करेंगे, तो संसार कैसे चलेगा। घर गृहस्थी चौपट हो जायगी, बाल बच्चे अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरेंगे। घर का सब ढाँचा बिगड़ जायगा। उन्हें तुम बहुत समझाओ, कि तुमने कुछ संसार का ठेका तो ले नहीं रखा है, न संसार को तुमने बनाया ही है। ब्रह्माजी ने इसे बनाया है, वे इसकी चिन्ता करेंगे। कोन किमका पुत्र, कोन किसकी पत्नी। जैसे प्याऊ पर कुछ देर की यात्रा एकत्रित होते हैं। साथ-साथ खाते-पीते हैं, विश्राम करते हैं। समय आने पर सब अपना-अपना रास्ता लेते हैं, क्यों तुम बाल बच्चों के लिये मर रहे हो, क्यों घर बनाने की चिन्ता में मग्न हो, सब यहाँ का यहीं रखा रह जायगा। इसलिये कर्मों के भ्रमों को छोड़ दो। निरन्तर प्रभु चिन्तन में निमग्न रहो। भगवान् आपके योगक्षेम का सब प्रबन्ध स्वतः ही करेंगे।

ये सब बातें सच्ची हैं, संसार में कौन किसका सगा सम्बन्धी है, सब स्वार्थ के भीत हैं। लोग नित्य देख भी रहे हैं। अपने देखते-देखते कितने पंदा हुए, कितने मर गये। कितने बच्चे से बूढ़े हुए, कितने बूढ़े परलोकवासी हो गये। मनुष्य देखता हुआ भी श्रमा बना रहता है। यही भगवान् की भाषा है, यही प्रकृति का खेल है। देह और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के गुणों में आसक्त प्राणी दिन-राति कर्मों में ही अन्धा होकर छुटा रहता है, उसे तुम कर्मों के दोष बताकर कर्मों से निवृत्त कर दो। तो वह ज्ञान

तो हो नहीं सकता। आलसी प्रमादी बन जायगा—उभय भ्रष्ट—हो जायगा। जब प्राणियों की कर्मों में स्वाभाविकी आसक्ति है, तो ज्ञानी को चाहिये उन्हें कर्मों से हटावे नहीं। शनैः शनैः उनके भावों में परिवर्तन करदे। उनको आसक्ति—स्पृहा—को भेट दे। उन्हें मन से निष्काम तथा निस्पृह बना दे। वास्तव में कर्म बन्धन के कारण नहीं है। उनमें जो आसक्ति हो जाती है वियोगों में भोगेच्छा बढ़ जाती है, बन्धन का कारण यही है। इसलिये ज्ञानी को चाहिये कि स्वयं भी निष्काम भाव से कर्म करते हुए शनैः शनैः उन कर्मात्मक पुरुषों की भावना को बदल दे। हाथी पकड़ने वाले एक सिंघास पढ़ाई पालतू हथिनी की जंगली हाथियों के झुंड में छोड़ देते हैं। वह पालतू हथिनी सब काम उन झुंड के हाथियों के समान हो करती है, किन्तु उसके कार्य करने का अभिप्राय उनके समान कर्म करना नहीं है, उनमें से किसी को फँसाकर अपने जैसा बनाना है। इसी प्रकार ज्ञानी कर्मात्मकों के साथ रहे, उनके सदृश कर्म में भी लगा रहे, किन्तु कर्मों की विषय भोगों की कामना से न करे। प्रभु की सेवा समझकर—समर्पण भाव से—कर्म करता रहे। इससे जो उन कर्मात्मक लोगों में मुमुक्षु होंगे, वे कर्म के रहस्य को समझकर निष्काम कर्मयोगी बन जायेंगे। ज्ञानी का और अज्ञानी का ऊपर से देखने में बर्म एकसा हो प्रतीत होगा, किन्तु अज्ञानी तो गुण कर्मों में आसक्त होकर भौतिक दृष्टि से कर्म करेगा और ज्ञानी सब कर्मों को भगवान् के प्रपञ्च करता हुआ माध्यात्म भाव से करेगा। वह जो भी करेगा। भगवान् के ही निमित्त करेगा। इस विषय में एक दृष्टान्त है—

कोई साधक एक महात्मा के समीप गया। साधक शरीर में दृष्ट-मुष्ट था। उसे माध्यात्म ज्ञान की जिज्ञासा हुई। कर्मों में

तो उसकी स्वाभाविक आसक्ति थी ही। जाकर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया।

महात्मा ने कुशल प्रश्न पूछने के अनंतर पूछा—“कहो भाई, कैसे आये?”

साधक ने कहा—“भगवन्! मे परमार्थ की जिज्ञासा से आया है, मुझे कोई ऐसा साधन बता दीजिये, जिससे मैं परमपद का अधिकारी बन सकूँ।”

गुरु ने कहा—“तुम बिना कुछ किये, निश्चल भाव से चुपचाप बैठ सकते हो?”

साधक ने कहा—जन्म से ही कार्य करने का स्वभाव है, एकदम चुपचाप कितनी देर बैठ सकता हूँ। कुछ साधन बतावें।

गुरु ने कुछ देर तक सोचा और फिर बोले—“तुम दिन भर दंड बैठक करते रहो, और मन में यह भावना रखो, कि मैं भगवान के लिये बैठक लगा हूँ।”

साधक ने कहा—“महाराज, दंड बैठक कब तक लगाऊँगा कोई इससे सरल उपाय बतावें।”

गुरु ने कहा—“अच्छा, तुम दीड़ लगाते रहो, किन्तु इस भावना से दीड़ो, कि मैं प्रभु को पाने के लिये दीड़ रहा हूँ।”

साधक ने कहा—“भगवन्! दीड़ते-दीड़ते तो थक जाऊँगा कोई और सरल उपाय बतावें।”

गुरु ने कहा—“अच्छा, धीरे-धीरे चलते ही रहा करो, किन्तु यह निश्चय करके चलो कि मैं भगवान् के लिये चल रहा हूँ।”

साधक पूछा—“प्रभो! कोई बैठे-बैठे करने का नहीं है?”

गुरु ने कहा—“हाँ, है क्यों नहीं, तुम यही सोचकर बैठे रहो, कि मैं भगवान् के लिये बैठा हूँ।”

साधक ने कहा—“वैठा कब तक रहूँगा, किसी मंत्र का जप नहीं कर सकता।”

गुरु ने कहा—“कर क्यों नहीं सकते। भगवान् के अनन्त नाम हैं, अनन्त मन्त्र हैं। जो तुम्हें अच्छा लगे उसी का जप करते रहो, किन्तु भावना यही बनो रहे कि मैं भगवान् के लिये जप कर रहा हूँ।”

साधक ने पूछा—“स्वामिन् ! आप तो बार-बार भावना पर ही बल दे रहे हैं। कोई क्रिया बताइये, जिसके करने से अन्तःकरण शुद्ध हो।”

गुरु ने कहा—“क्रिया भी तो भैया भावना से ही की जाती है। सकाम भावना से भी क्रिया होती है, निष्काम भावना से भी क्रिया होती है। अज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त होकर विषय भोगों की कामना से क्रिया करते हैं। ज्ञानी पुरुष निष्काम भाव से निराशी और निर्मम होकर भगवत् सेवा समझकर क्रिया करते हैं जो क्रिया भगवान् के लिये न होकर विषयों की प्राप्ति के लिये है, वह तो बन्धनकारक है, और जो प्रभु की पूजा के निमित्त क्रिया है, वह मुक्ति का साधन है। अतः जो भी क्रिया करो भगवान् के लिये करो जो करो उसे भगवत् अर्पण बुद्धि से करो। यही निष्काम कर्म योग है।”

सूत जी कहते हैं—“मुनियो ! भगवान् श्री कृष्ण जी निष्काम कर्म योग का उपदेश करते हुए अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! ये जितने भी प्राणी हैं, सबके सब माया के गुणों से अत्यन्त विमूढ़ बने हुए हैं। ये सब निरन्तर कर्मों में लगे रहते हैं। नहाम्रो घोरों, शोच कर्म करो, भोजन करो, बाल धनवाभो, बाल काढ़ो शृंगार करो, वस्त्रों को धोओ, उन्हें सजाओ। ये सब देह की क्रियार्थ हैं। इसी प्रकार उठना बैठना, चलना फिरना, देवना,

भालना, सूँघना, चखना आदि इन्द्रियों की क्रियाएँ हैं, तथा चिन्तन करना, मनन करना निश्चय करना ये श्रुतःकरण की क्रियाएँ हैं। प्रकृति के जितने गुण हैं, उनके कर्मों में मूल लोग आसक्त बने हो रहते हैं, क्योंकि यह शरीर ही प्रकृति निर्मित है। मिट्टी का बना घर मिट्टी से हो लुटेरा लोपा जाता है, प्रकृति निर्मित देह में प्रकृति क्रियाओं का होना स्वाभाविक ही है।”

अर्जुन ने कहा—“तब तो भगवन् ! ज्ञानी को चाहिये कि उन कर्मासक्त विसृष्ट पुरुषों को कर्मों से हटावे। जो कर्म उन्हें संसार-चक्र में फँसाये हुए हैं, उनका तो त्याग कराना ही श्रेयस्कर्म है।

भगवान् ने कहा—“अरे, भैया, कर्म छोड़े ही जायते हैं। बाँधने वाली तो भोग वासनाएँ ही हैं। केवल वासना के बदलने की आवश्यकता है। अब तो वे कर्मों में श्रद्धा रखकर प्रकृति के गुण कर्मों में बँधे हुए कर्म कर तोभी रहे हैं। ज्ञानी ने यदि उन्हें कर्मों से छुड़ा दिया, तो कर्म की श्रद्धा वाले व्यक्ति विचलित बन जायेंगे। इधर-उधर दोनों ओर से गिर जायेंगे। अतः परिपूर्ण ब्रह्म के साक्षात् विद्वान को चाहिये कि उन अनात्मजों में सुद्धि भेद न डाले। उन्हें कर्मों से विचलित न करे।”

अर्जुन ने पूछा—“कर्म तो प्रकृति के गुण कर्मों में आसक्त अज्ञानी ही करते हैं। ज्ञानी तो इन कर्मों से सर्वथा दूर हो रहता होगा ? वह तो कर्म नहीं करता होगा ?”

भगवान् ने कहा—“यही तो मैं बता रहा हूँ। ज्ञान ही जाने पर भी ज्ञानी को कर्म करते ही रहना चाहिये।”

अर्जुन ने पूछा—“तब मेरे लिये भगवन् ! क्या आज्ञा है ?”

भगवान् ने कहा—“तुमको बार-बार तो बता दिया है, तुम युद्ध करो, किन्तु प्रकृति के गुण कर्मों में संसृद्ध होकर किसी फल की प्राप्ति की इच्छा से नहीं, भौतिक भावना से नहीं। अर्थात्

बुद्धि से ब्रह्मात्म भाव से तथा तुम जो भी करो सबको मुझे ही अर्पण करते हुए फल को इच्छा न रखते हुए युद्ध रूपी कर्म को करो। परन्तु सावधान उसमें ममता का भाव न होने पावे शोक मोह का लेश मात्र भी न हो। तुम्हें जो युद्ध की बीमत्सता देखकर ज्वर सा आ रहा है, शरीर काँप रहा है, रोयें खड़े हो रहे हैं, इस भाव को त्यागकर, प्रसन्नता पूर्वक युद्ध करो, कि मैं धनुष-बाणों द्वारा ही प्रभु का पूजन अर्चन कर रहा हूँ, उनकी स्वधर्म पालन रूप पूजा कर रहा हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्षी तो विजय की अभिलाषा से लड़ रहे हैं, तुम सुख दुःख लाभ अलाभ, जय पराजय को समान समझकर मेरी पूजा मानकर युद्ध करो। तुम्हें किसी प्रकार का भी पाप नहीं लगेगा। मेरी बात मान लो। मेरी बात न मानोगे तो पछिताओगे।”

अर्जुन ने कहा—आपकी बात न मानने से क्या परिणाम होगा ?

सुतजी कहते हैं—“मुनियो ! भगवान् अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अर्जुन को समझा रहे हैं। अन्वय-भगवत् ध्याना-तो यह हुई कि तुम निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करो। व्यतिरेक-कर्म न करने में जो दोष होगा उसका वर्णन वे भागे करेंगे।”

छप्पय

अरजुन ! मोमें चित्त लगाओ मति धराओ ।
जिन-जिन करमनि करो मोई अरपन कतवाओ ॥
फल की आशा नहीं कबहुँ हिरदे में लाओ ।
विषयनि ममता त्यागि यसमें चित्त लगाओ ॥
राग द्वेष ममता अहं, तजि निज करतव जानिकै ।
युद्ध करो मय मति करो, ताप रहित निज मानिकै ॥

सर्व कर्म समर्पण का फल

[१६]

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनस्यन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
ये त्वेतदभ्यस्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमृष्टान्त्वान्निवृद्धिं नष्टानचेतसः ॥*

(श्री भग० गी० ३ छ० ३१, ३२ श्लो)

छप्पय

मेरो मत इतपष्ट जाइ मानव जे धारै ।
दोष दीडि तैं रहित हिये में श्रद्धा धारै ॥
मम मत की अनुसरन करे फल अरपन करिके ।
श्रद्धा मक्ति समेत चित्त मोई में धरिके ॥
ते हूँ जायैं मुक सब, नहीं होहि करमनि व्यथा ।
तू तो मेरो मित्र हे, अरजुन तेरी का कथा ॥

* जो भी धर्मिन्द्रक श्रद्धालु पुरुष मेरे इस मत के अनुसार सदा ही
वर्ताव करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मणो से विमुक्त बन जाते
हैं ॥३१॥

और जो निन्दक मूर्ख लोग मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं
करते ऐसे सर्व ज्ञान-विमूढ़ पुरुषों को तू नष्ट हुआ ही समझ ॥३२॥

सर्व कर्म समर्पण यह एक ऐसा योग है, कि कर्म करते हुए भी उनके फलों से अपना कोई प्रयोजन नहीं। एक किसी व्यापारी के यहाँ मासिक वेतन पर कोपाध्यक्ष है। लाखों रुपये उसके हाथ में नित्य आते हैं, लाखों रुपये को वह भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यय करता है। स्वामी के व्यापार में कभी लाखों का लाभ हो जाता है, कभी लाखों का घाटा भी होता है। उसको लाभ से कोई विशेष सुख नहीं घाटे से विशेष दुःख नहीं। अधिक आय से हर्ष नहीं, अधिक व्यय से विपाद नहीं। उसे तो नियत मासिक वेतन से प्रयोजन है। अधिक आय अधिक व्यय-अधिक लाभ अधिक हानि के परिणाम से-फल से-उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं। यह भी नहीं कि घाटा होने पर वह कोई दूसरे कार्य को करने लग जाय, वह तो कर्तव्य बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म को करता ही रहेगा। वह तो जो भी लाभ अलाभ प्राप्त होता है, सब को अपने स्वामी को अर्पण कर देता है। जो केवल कर्तव्य कर्म को तो करता रहता है, फल को भगवद् अर्पण कर देता है, वह सुख दुःख में, लाभ अलाभ में और जय पराजय में समभाव से रहता है। यह कितना अच्छा निष्काम कर्मयोग है। कर्तव्य कर्म भी होते रहते हैं, निष्क्रिय बंठना भी नहीं पड़ता, लोक संग्रह भी होता जाता है, और सहज ही मुक्ति का-परमपद का-अधिकारी भी बन जाता है। मान लो कभी भूल से कर्तव्य कर्म करते हुए फल को इच्छा हो भी गयी तो पतन तो न होगा, कर्तव्य कर्मों के करने के परिणाम स्वरूप उसे स्वर्ग की ही प्राप्ति तो होगी। इसीलिये भगवान् बारम्बार कर्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करते रहने पर ही अत्यधिक बल देते हैं।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो! भगवान् से जब अजुन ने पूछा—कि महाराज, दो निष्ठाओं में से मेरे लिये जो श्रेष्ठतम

हो उसे बताइये। तब भगवान् ने अर्जुन को समझाना आरम्भ किया—“देखो, भैया, कर्म न करने मात्र से ही कोई मोक्ष का अधिकारी नहीं बन जाता—केवल नेरवा वस्त्र पहिन कर संन्यास का ढोंग बनाने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती। निष्काम भाव से-ईश्वर अर्पण बुद्धि से—बिना फल की इच्छा रखे—जो कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही सच्चा योगी है, वही साधक है। केवल इसी एक विषय को अनेक युक्तियों से समझाते-समझाते श्रुत में यह स्पष्ट कह दिया कि तुम आध्यात्म बुद्धि से समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करके शोक, ममता और आशा को त्याग कर जो तुम्हारा इस समय प्राप्त धर्म युद्ध है, उस युद्ध को करो। यह मेरा निश्चित मत है।”

‘इस पर अर्जुन ने शंका की—“प्रभो ! सब लोगों को शास्त्र ज्ञान की इतनी भारी अनुभूति हो नहीं सकती, क्योंकि शास्त्र अनन्त है, और उनमें भी परस्पर विरोधी से वचन दृष्टि गोचर होते हैं उन सब को पढ़कर उनकी संगति लगाना सर्व साधारण के लिये सम्भव नहीं। ऐसे लोगों के लिये भी कोई उपाय है ?”

भगवान् ने कहा—“उपाय क्यों नहीं है, शास्त्रकारों ने तो सभी प्रकार के अधिकारियों का निर्वाह किया है। साधन में एक सबसे बड़ा विघ्न है ‘असूया’। असूया उसे कहते हैं जो गुणों में भी दोष निकालते हैं। दूसरों के भत का एक मात्र खडन करना ही जिनका उद्देश्य रहता है। जिसमें यह ‘असूया’ रूपी दुर्गुण न हो, और जो श्रद्धावान् हो। शास्त्र और आचाम द्वारा की हुई बात में विरवास करने का नाम श्रद्धा है। गौ का मूत्र पवित्र है यह शास्त्र का वचन है, इस पर श्रद्धा रखकर गौ मूत्र का पान करे। जो ऐसा न करके कहे—अरे, पशू का मूत्र नहीं पीना चाहिये। यही असूया है। यद्यपि चाहे उह विषय की हमें

स्वयं अनुभूति न भी हो, किन्तु शास्त्र कह रहा है, हमारे आचार्य देव की आज्ञा है, ऐसी भावना रखकर जो श्रद्धाभक्ति पूर्वक कार्य करता है वह भी मेरे इस उपदेश को सुनकर सब कर्मों को अर्पण करता हुआ निष्काम भावना से कर्म करता रहता है, वह भी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। यह मेरा निश्चित मत है।

अर्जुन ने पूछा—“अच्छा, भगवन् ! जो लोग आपके इस मत का श्रावण न करके सकाम कर्मों का ही आग्रह करें अथवा केवल वनावटों संग्रह के ही लिये बहुत बल दें। आग्रह पूर्वक कर्तव्य कर्मों का परित्याग करके निष्क्रिय बन जायें, उनकी क्या दशा होगी।”

अर्जुन का ऐसा प्रश्न सुनकर सदा प्रसन्न रहने वाले भगवान् वासुदेव को कुछ रोष आ गया। वे रोष के आवेग में कुछ ऊँची वाणी में कहने लगे—“अर्जुन ! जो अश्रद्धालु लोग मेरे वचनों पर विश्वास नहीं करते और मेरे कार्यों में दोषों का आरोप करते हैं, कि अर्जुन को युद्ध रूपी कंसे वीरतस कार्य में श्रीकृष्ण लगा रहे है, ऐसे दुष्ट चित्त वाले पुरुष सर्वज्ञान विमूढ़ हैं। सर्व स्वरूप में ही परब्रह्म हैं, वे अज्ञानी मेरे ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। वे मेरे बताये हुए मत का अनुष्ठान नहीं करते, तो उन अज्ञानियों को तुम परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट ही समझो। अरे, जिसका जो स्वभाव है, उसी के अनुसार तो काम करेगा। केवल उसमें कर्तव्य बुद्धि होना कामना की इच्छा न करना और उसे मेरे अर्पण कर देना, इतना ही कीर्तल है। इस कीर्तल के साथ जो कर्म करेगा सो कर्म करते हुए भी कर्मों के बन्धन में न फँसेगा।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने अन्वय

और व्यतिरेक द्वारा अपने निष्काम कर्म योग का फल बताया । अब आगे भगवान् इस बात को बता रहे हैं, कि सब अपनी प्रकृति से विवश होकर ही कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं । इसका अर्थान आगे किया जायगा ।

छप्पय

मोमें देखें दोष न मोमें श्रद्धा लामें ।
नित-नित निन्दा करें मोइ ढोंगी बतलामें ॥
नहीं करें अनुकरन न येरे मत कू मानें ।
नहिं समता आसकि तबें भोगहिं सुख जानें ॥
अज्ञानी मूरख सकल, ज्ञान रहित आसक हैं ।
सब परमनि तैं बहिष्कृत, मूढ़ अज्ञ ते नष्ट हैं ॥



ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है

[१७]

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥*

(श्रीमद् योग ३ अ०, ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

प्रकृति करावै करम प्रकृति के वश सब प्राणी ।
हैं स्वभाव तें विवश करै ज्ञानी अज्ञानी ॥
करनो चाहै नहीं प्रकृति बरबस करचार्य ।
जो स्वभाव प्रतिकूल पात ताके नहीं जायै ॥
अज्ञानी की यात का, ज्ञानी हूँ हैके अवश ।
करै अनुसरन प्रकृति को, हठ न चले जामें विवश ॥

* ये सभी प्राणी अपने स्वभाव से विवश होकर कर्म कर रहे हैं, यहाँ तक कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, इसमें कोई बाध क्या करेगा ? ॥३३॥
इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय ओगो में रागद्वेष छिपे हैं। मनुष्य इस राग द्वेष के वश में न हो, क्योंकि दोनों ही मोक्ष मार्ग में विघ्न-कारक और बाध हैं ॥३४॥

ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है १६१

एक मनुष्य जब उत्पन्न होता है, उसके उत्पन्न होते ही बाजे-बजते हैं, मंगल होते हैं। उसका लालन-पालन अनेक पुरुषों की रक्ष-रक्ष में होता है। उसकी सुख सुविधा की वस्तुएं प्रथम ही प्रस्तुत रहती हैं, इसके विपरीत एक उत्पन्न होते ही अन्न के लिये तरसता है, कोई उसकी ओर ध्यान ही नहीं देता। उसे एक-एक वस्तु के लिये परमुखापेक्षी बनना पड़ता है। यह क्या बात है, आप कहेंगे यह तो सामाजिक विषमता का कुपरिणाम है। जब साम्यवाद हो जायगा, तब यह भेदभाव नहीं रह सकता, किन्तु साम्य में तो प्रलय है, विषमता में ही सृष्टि का चक्र चल सकता है। जैसी साम्यता की आप कल्पना करते हैं, वैसी साम्यता कभी हो ही नहीं सकती। एक बालक पैदा होते ही दुबला पतला निर्बल है, दूसरा पैदा होते ही हृष्ट-पुष्ट तथा सबल है। एक पैदा होते ही स्वरूपवान् है, एक पैदा होते ही, कुरूप है। एक पैदा होते ही लम्बा-चीड़ा सुगठित है, एक पैदा होते ही ढिंगना बेडंगा है। इन विपरीतताओं का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि आप पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानें। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही ऐसी विभिन्नता हुआ करती है।

पूर्वजन्म में जिसने धर्म कर्म किये होंगे, उसकी जन्म से ही प्रवृत्ति धार्मिक कार्यों में रहेगी। पूर्व जन्मों में जिसने अधर्म-कर्म किये होंगे, उसको स्वाभाविक प्रवृत्ति अधर्म के ही कार्यों में होगी। पूर्वजन्म में जिसने ज्ञानार्जन किया होगा, वह जन्म से ही ज्ञानवान् होगा। पूर्वजन्म में जैसी इच्छायें उसकी रही होंगी, वर्तमान जन्म में उन्हीं की अभिव्यक्ति प्रतीत होगी। पूर्वजन्म के संस्कार ही इस जन्म में अपने आप उन्हीं संस्कारों में प्रवृत्त करते हैं। हमने बहुत छोटे ऐसे बच्चों को देखा है, कि वे ५, ६ वर्ष की अवस्था में ही संगीत में ऐसे पारंगत हो जाते हैं, कि बड़े-बड़े

संगीताचार्य भी उन्हें देखकर विस्मित हो जाते हैं, कोई बच्चे बहुत ही छोटी श्वस्या से इंजन के कल पुर्जों की इतनी भारी जानकारी रखते हैं, कि बड़े-बड़े मिस्त्री भी उतनी नहीं रखते। एक ही कक्षा में सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते हैं, एक तो सुनते ही याद कर लेता है वह एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन कक्षाओं को घड़ाघड़ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करता चलता है। दूसरा ४ वर्ष में भी दिन-रात्रि परिश्रम करने पर भी उत्तीर्ण नहीं होता। इससे यही निष्कर्ष निकला कि इस जन्म में पूर्वजन्म की प्रकृति पूर्वजन्म का स्वभाव ही कारण है। जैसे आप एक पुस्तक को आधो पढ़कर सो गये, तो दूसरे दिन उठकर आप को वह पुस्तक फिर से न पढ़नी पड़ेगी। जहाँ तक कल पढ़ गये थे उससे आगे से ही पढ़नी होगी। सोते समय तुम पढ़े-लिखे सबको भूल गये थे, जागने पर फिर वह पूर्व का पढ़ा हुआ स्मरण हो आया। इसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार निद्रा ही है। "मृत्युरत्यंत विस्मृतिः" सोने में थोड़ी चेत को विस्मृति होती है, इसी शरीर से जागने पर स्मृति हो आती है। मृत्यु में विस्मृति कुछ अधिक काल तक रहती है, दूसरा शरीर पाने पर पूर्वजन्म की स्मृति होती है। पूर्वजन्म के जैसे संस्कार रहे होंगे, पूर्वजन्म में जैसी प्रकृति रही होगी, वसी ही प्रकृति इस जन्म में भी रहेगी। इसीलिये तो पूर्वजन्म में जिन्होंने मुक्ति के लिये प्रयास किया है, उन्हें ज्ञान होने पर या भगवत् साक्षात्कार होने पर मुक्ति अथवा भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। साधारणतया भगवत् दर्शन होने के अनन्तर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है। किन्तु राजपि मुकुन्द को तो भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गये थे। भगवान् ने उनसे बारंबार वर मांगने को कहा। इतने पर भी उन्होंने कोई संसारी कामनाओं के पूर्ण करने का वर नहीं

ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है १६३

भौंगा। यही कहा आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये।" इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और अपने आप ही उन्हें वरदान दिया—
"राजन्! तुम्हारी मति बड़ी सुन्दर है, तुम्हारा निश्चय बड़ा पवित्र है, मुझमें तुम्हारी विषय वासना शून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी। तुमने इस जन्म में क्षत्रिय धर्म का पालन करते समय, शिकार आदि के अवसरों पर बहुत मे पशुओं का वध किया है। अब एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते हुए, तपस्या के द्वारा उन पापों को धो डालो। महाराज! आप अगले जन्म में ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियों के सच्चे हितैषी परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञान धन परमात्मा को प्राप्त करोगे।"

अब बताइये। भगवत् साक्षात्कार होने पर भी पाप शेष रह गये क्या? भगवान् ने इसी जन्म में उन्हें मुक्ति क्यों नहीं दे दी? एक जन्म का भ्रमट और क्यों लगा दिया?

बात यह है, कि भगवान् तो जैसी जिसकी निष्ठा होती है; वैसा ही उसको फल देते हैं। महाराज मुमुक्षु कर्म निष्ठा वाले थे, वे यज्ञ यागादि करके अपने वणश्रम के अनुरूप कर्मों में सदा लगे रहे। युद्ध में भी उन्होंने प्राणियों का वध किया और मृगयादि में भी। फिर भी अपने वणश्रम धर्म का ही पालन करते रहे। भगवान् ने उन्हें वणश्रम के विहित ही वरदान दिया। क्षत्रिय को संन्यास का अधिकार नहीं और कर्म मार्ग में संन्यास के बिना मुक्ति नहीं। वणश्रम धर्म का पालन करते हुए भी वे भगवत् भक्त थे। भगवान् ने दोनों का ही निर्वाह कर दिया। एक जन्म की क्या बात है। तपस्या से पूर्व-जन्म के हिसाबि पाप भी कट जायेंगे अन्त में भगवत् प्राप्ति भी हो जायगी, क्योंकि चाहे कितना भी ज्ञानी हो, कितना भी भगवत्

भक्त क्यों न हो पूर्वजन्म की प्रकृति इस जन्म में अनुसरण करती ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् जब धर्म का वर्णन करते हुए बता रहे हैं—“अर्जुन! तुम सोचते होगे, कि आप तो इस चराचर विश्व के स्वामी हो और आप अपने मत की डंके की चोट धोपणा कर रहे हो, राजा की भाँति आज्ञा भी देते हो जो श्रद्धावान् और दोष दृष्टि से रहित होकर सर्वदा मेरे इस मत का आचरण करते हैं, वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।” और न करने वालों को भयभीत करते हुए उनकी घोर निन्दा करते हुए यह भी आज्ञा दे रहे हैं—“कि जो निन्दक मेरे मत का आचरण नहीं करते वे दुष्ट, असानी महाभूढ़ समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायेंगे।” इतना होने पर भी प्राणी आपकी आज्ञा का पालन क्यों नहीं करते? आपकी बात क्यों नहीं मानते।”

इस पर भगवान् हंस पड़े और कुछ ठंडे होकर मुसकराते हुए बोले—अर्जुन! क्या बतावें, चाहे कितना भी ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह भी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार विवश होकर इस जन्म में अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। ये प्राणी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं। इसमें निग्रह अनुग्रह आज्ञा अनुज्ञा से काम चलने का नहीं। प्रकृति उन्हें बलात् पूर्वजन्मों के संस्कारानुसार प्रेरित करती है।

नही तो धृतराष्ट्र के समान ज्ञानी कौन है, कितने विवेकी कितने साधु सेवी हैं। साक्षात् धर्म के अवतार विदुर जी जिनके सम्मति वांता उनकी भी बुद्धि कंसी हो गयी है, जब अक्रूर जी ने आकर उन्हें बहुत फटकारा तो उन्होंने यथार्थ ही कह दिया—अक्रूर जी! सुना है, सर्वशक्तिमान् भगवान् ही पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त यदुकुल में उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कौन है जो उनके

जानो भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है १०५

विधान में उलट कर कर सके। उनकी जैसी इच्छा होगी वही होगा। भगवान् की माया का मार्ग अचिन्त्य है। उसी माया के द्वारा इस संसार की सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं तथा कर्म और कर्म फलों का विभाजन करते हैं। इस संसार चक्र की बेरोकटोक चाल में उनकी अचिन्त्यलोला शक्ति के अतिरिक्त और कोई बारण नहीं है।" सो, अर्जुन! धृतराष्ट्र ने मेरी प्रकृति की ही महिमा गाकर अपने को उसके अधीन होकर वर्तव्य करने को विवश बताया।

अर्जुन ने कहा—“भगवान्! तब तो अपना कोई कर्तव्य ही न रहा। जब सब काम प्रकृति के ही अनुसार हो रहे हैं, और उसमें निग्रह करने से भी काम नहीं चलता, तब तो लौकिक वैदिक पुरुषार्थ का कोई विषय ही न रहा। फिर यह विधि है यह निषेध है, शास्त्र के ऐसे वचन व्यर्थ हो हैं।

इस पर भगवान् ने कहा—“लुप्त ठीक कहते हो, यद्यपि सब प्रकृति के ही अनुसार वर्तव्य कर रहे हैं, किन्तु उन भोग्य पदार्थों के प्रति स्पृहता निस्पृहता रागद्वेष के भाव न होने चाहिये। बन्धन का कारण तो राग द्वेष है। क्षत्रिय है अपनी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार युद्धादि में प्रवृत्त तो होगा, किन्तु सुख दुःख, लाभ अलाप, जय पराजय में समभाव रखकर प्रकृति अनुसार युद्ध करेगा, तो उसे युद्ध जन्तु पाप नहीं लगेगा। इन्द्रियों के कुछ विषय तो अपने अनुकूल होते हैं और कुछ विषय प्रतिकूल होते हैं, कुछ में राग होता है कुछ में द्वेष होता है। मुमुक्षु पुरुष की इतनी ही विशेषता है, कि अनुकूल और प्रतिकूल विषयों के अधीन न होना चाहिये। विषय न शत्रु है न मित्र उनमें जो राग-द्वेष है वही शत्रु है, वे ही परिपन्थी हैं। कुमार्ग की ओर से जाने वाले हैं। स्वाभाविक राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने पर मुमुक्षु

को उसकी प्रकृति विपरीत मार्ग की ओर नज़रों से जाती । इसलिये शास्त्र की विधि निषेध आज्ञा रागद्वेष के सम्बन्ध में है । वह व्यर्थ नहीं है ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने रागद्वेष त्यागकर प्रकृति अनुसार कर्म करने को कहा तब अर्जुन ने शंका की में भी तो कुछ त्यागकर विद्यावृत्ति पर अपनी प्रकृति के ही अनुसार कार्य करना चाहता हूँ फिर आप मुझे उससे क्यों रोक रहे हैं ?" इसका जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्यून में आगे कहूँगा ।

छापय

इन्द्रिय उनके अर्थ विषयते राग-द्वेष है ।
जो अपने अतुकूल द्वेष नहीं राग-शेष है ॥
जो होवै प्रतिकूल द्वेष उनते अति होवे ।
परिभूत जो विषय ज्ञान विज्ञानहिँ सोवै ॥
राग-द्वेष वश होहिँ नहीं, नहीं ये अपने मित्र हैं ।
अपरोधक कल्याण के, विघ्नरूप अति शत्रु हैं ॥



स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है

[१८]

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

धर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाण्येय बलादिव नियोजितः ॥ ॐ

(श्री भग० गी० ३ ध०, ३५, ३६ श्लोक)

दृश्यते

सबको है एक धर्म वही करतव्य कहावे ।

अपनी अपनी धर्म सविधि करि मोक्ष दयावे ॥

अपनी गुनतै रहित धर्म सुखकर है भाई ।

अच्छो ऊ परधर्म सदा होवे दुखदाई ॥

मरनो अपने धर्म में, सुखदाई होवे सतत ।

भयदाता परधर्म है, सदा रहे ताते विरत ॥

* भली-भाँति आचरण में लाये हुए दूसरों के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म थोड़ है । स्वधर्म पालन में तो मरना भी उत्तम है, क्योंकि परधर्म भय को देने वाला है ॥ ३५ ॥

धर्जुन ने मुझ—'हे सुप्रिय! तावत्स भगवन् ! यह पुरुष बिना इच्छा के भी जैसे किसी ने बलात् लगा दिया हो, इस प्रकार किसी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है ॥ ३६ ॥

वर्णाश्रम धर्म की प्राचीन परम्परा ऐसी थी, कि जिसका जो वंश परम्परा से चला आता हुआ पेटुक धंधा होता था, उसी के द्वारा वह अपना जीवन निर्वाह किया करता था। इसे 'स्वधर्म' कहते थे। स्वच्छा से बिना आपत्ति के कोई अपने कुलागत धर्म को बदल नहीं सकता था। आपत्ति काल का धर्म दूसरा था, उसे आपद्धर्म कहते थे, उस आपद्धर्म के भी नियम थे। ब्राह्मण आपत्ति काल में क्षत्रिय धर्म अर्थात् हाथ में खड़ लेकर युद्ध से आजीविका प्राप्त कर सकता था। आपत्ति काल में खेती और व्यापार से भी आजीविका चला सकता था, किन्तु किसी भी आपत्ति हो, शूद्र वृत्ति को नहीं अपना सकता था। क्षत्रिय आपत्ति के समय ब्राह्मण वेप बनाकर भिक्षा से निर्वाह कर सकता था, खेती व्यापार कर सकता था, इसी प्रकार वैश्य शूद्र-वृत्ति तथा वनवासियों की जो पत्तल बनाता, घटाई बुनता, इनको कर सकता था, किन्तु इनको वह तभी तक कर सकता था, जब तक आपत्ति हो। आपत्ति मिथुत्ति हो जाने पर उसे पुनः स्वधर्म का पालन करना चाहिये यदि सनापति काल में भी वह परधर्म का पालन करता है, तो पतित हो जाता है।

महाभारत युद्ध, भूमि के लोभ से, या राज्य पाने की इच्छा से अथवा ऐश्वर्य भोग की लालसा से नहीं हुआ था। विशुद्ध धर्म युद्ध था। पांडवों के जब आपत्ति के दिन थे, तब वे बारह-बपौ तक ब्राह्मणों का वेप बनाये-भिक्षावृत्ति-पर-निर्वाह करते रहे। जब उनका विवाह दुपद पुत्रों द्रौपदी से हो गया। वे शूद्रस्थ क्षत्रिय बन गये आपत्ति के दिन बीत गये तब उन्होंने कहा कि 'अब हम भिक्षा पर निर्वाह नहीं कर सकते, अब हम प्रजा-पालन रूपी क्षत्रिय धर्म का ही पालन करेंगे। जंगल में उन्हें खांडव प्रस्थ एक बन का राज्य दे दिया गया। वही उन्होंने आपत्ति

युष्मार्थ से क्षत्रियोचित धर्म का पालन करते हुए इन्द्रप्रस्थ नामक एक समृद्धशाली साम्राज्य की स्थापना कर ली।

जब छुत क्रोडा में अपना सर्वस्व हारकर वनवास करने लगे, तब यद्यपि आपत्ति काल ही था, फिर भी वे क्षत्रियोचित ठाठ-बाट से रहते थे। जब अज्ञातवास में रहे तो विशुद्ध आपद्धर्म का पालन किया। वन की अवधि समाप्त होने पर भी जब दुर्योधन उनके पेलुक राज्य को लोटाने को तैयार न हुआ, तब क्षत्रिय धर्म के अनुसार उन्हें युद्ध करके राज्य प्राप्त करना चाहिये था, किन्तु धर्मराज भाई भाइयों में रक्तपात की उचित नहीं समझते थे, अतः उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यद्यपि हम अवस्था में बड़े हैं, दुर्योधन हमसे छोटा है। राज्यवंश की परम्परानुसार हमें राज्यगद्दी मिलनी चाहिये। दुर्योधनादिकों को हमारे अधीन रहकर छोटे राज्यों में राज करना चाहिये, किन्तु यदि दुर्योधन का सम्राट् बने ही रहने का हठ है, तो हम कुल की कलह को मिटाने के लिये उसके अधीन भी रहने को तैयार हैं। क्षत्रिय धर्म का पालन करने तथा निर्वहि के लिये वह हम पाँच भाइयों को केवल पाँच गाँवों का ही राज्य दे दे। पहिले एक-एक गाँव के भी राजा होते ही थे। एक गाँव में कई राजा या भूपति होते थे। वास्तव में राजा शब्द भूमिपति क्षत्रिय भाग के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु दुर्योधन पाँच-गाँव की तो बात ही बँया भूमि में सुई की नाँक गढ़ाने पर जो छोटा सा छिद्र हो जाता है, उसनी भी भूमि देने को जब तैयार न हुआ, तो विवश होकर स्वधर्म से प्रेरित होकर धर्मराज ने युद्ध किया। राज्य के लालच से नहीं।

उन दिनों वंश परम्परागत कार्य को सभी लोग धर्मेन्द्र श्यामहृत्पूर्वक करते रहते थे। अपनी वंश परम्परागत धर्म कितना

भी सदीप हो, उसे कोई बदलता नहीं था। धर्म शास्त्रकारों ने केवल तीन ही कार्यों को बदलने की छूट दी है। एक तो जिसके वंश परम्परा में चोरी करते आये हों वह यदि चोयेबर्म को छोड़ दे तो उसे पाप न लगेगा। दूसरा हिंसा का कर्म, फौसी देना जीवहत्या करना आदि। तीसरा नाटकों में खो बनकर अभिनय करना। किसी के बाप दादे ऐसा बर्म करते आ रहे हैं और कोई उसे छोड़कर दूसरा कार्य अपना ले तो उसे दोष न लगेगा। शेष जो भी परम्परागत कार्य हों उन्हें धर्मपूर्वक करते ही रहना चाहिये। इस विषय के महाभारत में धर्मक हठान्त हैं। धर्म-व्याध ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है। महाभारत की बहुत सुप्रसिद्ध सर्वत्र प्रचलित कथा है कि कौशिक ब्राह्मण अपने माता-पिता की सेवा रूप धर्म को त्यागकर वन में तपस्या करने लगा। तपस्या करते-करते उसकी जटायें बढ़ गयीं। उनमें पक्षियों ने घोंसला बनाकर अंडे दे दिये। अंडे बच्चे बनकर उड़ गये। एक वृक्ष पर बगुली बैठी थी उसने तपस्वी पर बीठ कर दी इससे तपस्वी को क्रोध आ गया। तनिक वक्रदृष्टि से उसकी ओर देखा वह मरकर गिर गयी। इससे उन्हें दुःख भी हुआ अपनी तपस्या का अभिमान भी बढ़ा, भिक्षा करने एक सती के घर में गये। सती अपने पति परमेश्वर की सेवा रूप स्वधर्म में संलग्न थी। उसे भिक्षा लाने में देरी हुई। ब्राह्मण को क्रोध आ गया। उस खो से बोले—“तू मेरे प्रभाव से परिचित नहीं है?” खो ने हँसकर कहा—“बाबाजी! बगुली नहीं है, मैं अपने स्वधर्म पालन में लगी हुई थी। मैं तुम्हारी दृष्टि से भस्म होने वाली नहीं। ब्राह्मण का क्रोध कपूर की भाँति उड़ गया। उसने उपदेश करने की प्रार्थना की। सती ने कहा—“महाराज! मुझे उपदेश करने का अवकाश नहीं मिलेगा। पुरी में धर्मव्याध नाम का भर्मात्मा

है, उसके पास जाओ, वह तुम्हें उपदेश देगा। ब्राह्मण पूछता हुआ मिथिला में धर्मव्याप के समीप पहुँचा। वह वधशाला के बाहर मांस बेच रहा था। ब्राह्मण को धाता देववर धर्मव्याप ने उठकर उन्हें प्रणाम किया और बोला—“ब्रह्मन् ! जिस व्याप को खोजते हुए उस सती के बहने पर यहाँ आये हैं वह व्याप मैं ही हूँ।”

अब तो ब्राह्मण के आश्रय का ठिकाना नहीं रहा। धर्म-व्याप से बातें करने से उसे प्रतीत हुआ यह तो पूर्णज्ञानी सिद्ध पुरुष है। जब वह मांस बेच चुका तो ब्राह्मण को लेकर घर की ओर चला। ब्राह्मण ने कहा—“भैया, तुम पूर्णज्ञानी होकर यह मांस बेचने का नीच कार्य करते हो, यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। तुम्हारे इस कार्य में मुझे तो वृथा बलेश हो रहा है।

इस पर व्याप ने कहा—“देखिये, ब्रह्मन् ! यह कार्य मेने स्वेच्छा से नहीं अपनया है। यह मेरा वंशपरम्परा का व्यवसाय है। मेरे पिता, पितामह, वृद्ध प्रपितामह सब इसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाते आये हैं। यह हमारा स्वयमं है। मैं स्वयं कोई निषिद्ध कार्य नहीं करता। मैं स्वयं जीवों को मारता भी नहीं। मेरे मराने जीवों का मांस लाकर बेचता हूँ। मैं स्वयं कभी मांस नहीं खाता। सत्य बोलता हूँ, अपने माता-पिता को देवता मानकर उनकी पूजा करता हूँ, परनिन्दा नहीं करता, यथाशक्ति दान देता हूँ, अतिथि श्रम्यागत, देवता तथा सेवकों को सन्तुष्ट कर उनसे बचे अन्न को खाता हूँ, मैं अपने वंश परम्परागत व्यवसाय को क्यों छोड़ूँ। फिर उसने अपने माता-पिता को दिखाकर कहा—“इनकी सेवा ही मेरा तप है। घर के तीर्थ-माता-पिता-को छोड़कर बाहर तपस्या के लिये भटकने से क्या लाभ ? आप घर जाइये माता-पिता की सेवा कीजिये।

धर्म व्याव ने कौशिक ब्राह्मण को बहुत उपदेश दिया है। महाभारत में वह धर्मव्याध भीता के नाम से बड़ा ही शिक्षाप्रद रोचक प्रकरण है। इस संवाद से तीन शिक्षायें मिलीं। जिनका माता-पिता की सेवा धर्म है उन्हें अम्यत्र तपस्या के लिये जानि की आवश्यकता नहीं। स्त्रियों का अपने पतियों में सहज अनुराग होता है। अतः स्त्रियों का सहज धर्म पति सेवा ही है। स्त्रियों को पति सेवा से ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पति को छोड़कर उन्हें अकेले तीर्थ यात्रा, उपवास व्रत तथा तपस्या आदि की आवश्यकता नहीं और जिनका जो वंश परम्परा का सहज धर्म है वह सदोप भी हो तो उसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

वेश्यावृत्ति एक अत्यन्त नीच गह्रा हेय वृत्ति है किन्तु जिसका यही वंश परम्परा का व्यापार हो, उसको भी इसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

पाटलिपुत्र के राजा के राज्य में एक समय गंगाजी में बड़ी भारी बाढ़ आई। उसने छोटी पिढवादी कोई अपने धर्म से बाढ़ को रोक सकता हो, तो आवे। एक वेश्या सम्मुख आई। उसने कहा—मैं बाढ़ को रोक सकती हूँ।”

राजा ने कहा—“तू नीच कर्म करने वाली वेश्या तू कैसे रोक सकती है?”

उसने कहा—“राजन्! वेश्यावृत्ति मेरा वंश परम्परा का व्यवसाय है, मेरा सहज धर्म है। मैं अपने ग्राहकों से छल कपट नहीं करती। जिसदिन जिससे, जितने में पण हो जाना है, फिर कोई मुझे करोड़ रुपये दे मैं अपने पण को बदलती नहीं। मैं प्राणि-मात्र-का हित चाहती हूँ, सत्य का- भाव रख करती हूँ।”

“उसी धर्म के बल पर मैं बाढ़ को रोक सकती हूँ।” राजा ने

स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है २०३

उसकी बात स्वीकार की। सबके देखते देखते वैश्या के धर्म के प्रभाव से वाङ्ग शान्त हो गयी।

ऐसी ही कथा गंडकी की भी है। गंडकी एक वैश्या की पुत्री अत्यन्त ही रूपवती थी। उसके सौंदर्य की रूप यौवन की और धर्म की तीनों लोको को में ख्याति थी। वह एकदिन को जिस पुरुष से पण करती, एकदिन को जिसे अपना शरीर समर्पित करती। दूसरे दिन सुषोदय तक उसमें ईश्वरभाव रखकर सब प्रकार से उसकी सेवा करती। सुषोदय होने पर उसके चरणों में प्रणाम करके प्रेम पूर्वक उसे विदा कर देती, तब दूसरे पुरुष से दूसरे दिन तक को पण करती। एकबार पण कर लेने पर फिर कोई कितना भी सुन्दर पुरुष क्यों न आ जाय कितना भी अधिक धन क्यों न दे दे वह अपने पण को बदलती नहीं थी।

एक दिन एक बड़ा ही सुन्दर नवयुवक आया। उसने एक राजा का उससे पण किया, उसने रुपये दे गया और चला गया। उसके पश्चात् बहुत से सुन्दर से सुन्दर युवक आये। करोड़ों उर्वर मुद्राये देने उद्यत हुए। अपनी माता के अत्यन्त आग्रह सु करने पर भी उसने अपने पण को नहीं बदला और उसी युवक का ध्यान करते-करते उसी की प्रतीक्षा में बैठी रही। राजा के दस बजे वह नारायण नाम का युवक आया। उसने भगवत् बुद्धि से उसका स्वागत सत्कार किया। उसका नियम था, एकदिन को जिसके साथ पण करती, उसमें भगवत् बुद्धि रखकर पाद्य, अर्घ्य आचनीय जल देकर स्नान कराती, सुन्दर वस्त्रोपयोगों से अलंकृत करके चन्दन, अक्षत, पुष्पमाला अर्पण करके नाना प्रकार के व्यञ्जनों से उसे भोजन करीके तदनन्तर आत्मसमर्पण कर देती। भोजन के पश्चात् मित्रों के साथ बैठकर बातें करती। उसने पाद्य, अर्घ्य आचमनीय जल देकर ज्यों ही सुगन्धित

जल से स्नान कराने को उसके वस्त्र उतारे, त्योही क्या देखती है, उस युवक के सम्पूर्ण शरीर में गलित कुण्ड है। यह देखकर भी वह तनिक विचलित न हुई। रुई लाकर उसके घावों के पीव को पीछती रही धीपधि लगाती रही। बहुत-सी सेविकायें उसने सेवा में लगा दी। उसकी माँ बहुत मना करती रही—“बेटी ! इसके रुपये लौटा दे, इस कोड़ी को घर से बाहर कर दे।” किन्तु उसने स्पष्ट कह दिया—“माँ ! मैं अपने स्वयम् से कभी भी विचलित न हूँगी। सूर्यास्त तक ये मेरे पति परमेश्वर हैं। शक्ति भर मैं इनकी सेवा में सतत संलग्न रहूँगी। वह ध्राप्यी रात्रि तक उसके घावों को धोती रही धीपधि लगाती रही अर्धरात्रि के पश्चात् उस युवक को विसृजिका (हेजा) हो गयी। बार-बार शैया पर ही मल मूत्र उत्सर्ग कर दे, वमन कर दे। वह तुरन्त वस्त्रों को बदल दे। उसके यहाँ वस्त्रों की कमी नहीं थी। ज्यों ही वह नये वस्त्र बदले त्यों ही वह युवक पुनः मल त्याग दे, वमन कर दे। वह न तो छुणा करती, न क्रोध करती, अव्यग्र भाव से श्रद्धा पूर्वक सेवा में संलग्न बनी रही। अरुणोदय के समय वह युवक मर गया।

अब इस गंडकी-वारंगमा-परयस्त्री-ने कहा—“सूर्योदय से पूर्व ही मेरे परमपति का स्वर्गवास हुआ है, मैं तो इनके साथ सती होऊँगी।” उसकी माता ने, सम्बन्धियों ने, बड़े-बड़े सेठ साहूकारों ने राजा ने उसे ऐसा करने से बहुत मना किया, किन्तु उसने किसी की बात मानी नहीं। नगर भर में जितना चन्दन मिला, सब क्रय करके उसने चन्दन की चिता बनवायी, उसे गोदी में लेकर सोलह-शृंगार करके बहु चित्ता में बैठ गयी। सब रो रहे थे, नगर भर के लोग अपने नगर की इतनी नामी सुन्दरता की सजीव मूर्ति को जीवित जलते देखकर हा-हा करके खन

स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म-भयावह है २०५

कर रहे थे, पुरोहित ने चिता की परिक्रमा करके ज्योंही उसमें अग्नि देनी चाही, त्यों ही वह युवक हँस पड़ा। सबने रोना-बन्द किया, उपस्थित जन समूह में हँस की एक लहर छा गयी। लोग परस्पर में काना फूँसी करने लगे।

तब उस वारांगना ने पूछा—“महाराज ! आप हैं कौन ? पहिले तो बड़े सुन्दर नवयुवक बन कर आये, फिर कुष्टा बन गये, फिर आतुर रोगी बने, फिर मर गये और हँस रहे हो ?”
हँसते हुए युवक ने कहा—“मेने तो पहिले ही तुम्हें अपना नाम बता दिया था। मैं साक्षात् नारामय हूँ, तुम्हारे स्वधर्म पालन की निष्ठा की परीक्षा लेने आया था। तुम उसमें पूर्ण-रीत्या उत्तीर्ण हो गयीं, अब तुम मुझसे जो चाहो तो वरदान माँग लो।”

ऐसा कहकर भगवान् ने अपना दिव्यचतुर्भुज रूप उसे दिखाया। भगवान् के दर्शन पाकर उसने कहा—“प्रभो ! आप ऐसे कृपा के सागर हैं, कि मुझ लोक निन्दित नीच वारांगना, पण्डितों बहभलूँ का के भी समीप पधारे और मुझे दर्शन दिये अपनी सेवा का देवदुर्लभ अवसर प्रदान किया और अब आप मेरे अंक में विराजमान हैं, अब माँगने को शेष रहा ही क्या ? फिर भी आपका कुछ देने का आग्रह ही है, तो आप सदा सर्वदा इसी प्रकार मेरे अंक में विराजमान रहें।”

भगवान् को धृन्दा के शाप वश अपना पापाण का श्री विग्रह बनाना ही था। गण्डकी का शरीर दिव्य जलमय होकर गण्डकी नदी के नाम से प्रवाहित हो गया और भगवान् शालग्राम रूप से उसके अंक में सदा विराजमान रहते हैं।”

इस कथा से यही सिद्ध होता है, कि अपना स्वधर्म-वंश परम्परा से चला आया कर्म-कैसा भी निन्दित क्यों न हो, यदि

उसका भलोभाति प्रभु सेवा समझकर पालन किया जाय, तो उसी साधन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, भगवत् साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से पुण्यजन हो जाने पर भी कर्म करते रहना तो ठीक है, किन्तु कर्म ऐसा मृदु, दूसरों को संताप न देने वाला, ग्रहिसक, तथा अधिक श्रमकारक न होना चाहिये। इसलिये हम् एकान्त में बैठकर मंत्रामुण्डान रूपी कर्म करें, जप करें, कापोतो वृत्ति धारण करके कबूतर की भाँति एक-एक दाना चुनकर लायें। या शिवोच्छृष्टि से निर्वाह करें, नहीं तो घर-घर से निरव्य भिक्षा वृत्ति में ही निर्वाह करें। जिस युद्ध में असंख्य जीवों का वध हो, ऐसे क्रूर कर्म को क्यों करें ? रागद्वेष त्यागकर मुनिवृत्ति धारण कर लें।”

इस पर भगवान् ने कहा—“देखो भैया, संसार में इतने काम निन्दनीय हैं—धृष्टाहीनता, भ्रूसूया या डाह, चित्त की दुष्टता, मूढ़ता, प्रकृति के वशवर्ती होना, पुच्छल रागद्वेष और परधर्म में रुचि रखना।”

अर्जुन ने पूछा—परधर्म क्या ?

भगवान् ने कहा—“जिस वर्य के लिये जिस आश्रम के लिये जो कर्म विहित है, उसी का नाम तो स्वधर्म है, और जो इसके विपरीत अपने वर्य आश्रम के विरुद्ध वृत्ति को स्वीकार कर लेना परधर्म है। वंश परम्परा से जिस कार्य के द्वारा अपनी आजीविता चलाते आये हो, उसी को करते रहो, इससे समाज की स्थिति सुदृढ़ बनी रहेगी, किन्तु जो अपने पैतृक धर्म को त्यागकर इधर-उधर भटकते फिरेंगे, तो इससे तो समाज में कर्म संकटा बढ़ेगी। कृपक का लड़का, सेती ही करे घोवी का, बच्चा कपड़े ही

स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है २०७.

घोवे। जब सब अपने-अपने धर्म कर्म में लगे रहेंगे तो सभी सुखी रहेंगे।”

अर्जुन ने पूछा—“अपनी वंश परम्परा का काम कुछ हेय हो, छोटा हो, श्रंग हीन हो तो उसे छोड़कर कोई दूसरा साङ्गोपाङ्ग कर्म स्वीकार करले तो इससे क्या दोष लगेगा?”

भगवान् ने कहा—जैसे तुम हेय कर्म समझते हो, आखिर उसे भी तो कोई करेगा ही जब समाज में सब कामों को सभी नहीं कर सकते। अच्छा बुरा सभी काम किसी न किसी को करना ही है, तो सुविधा तो इसी में है, कि जो जिसका वंश परम्परा से काये चला आ रहा है, उसे विगुण होने पर भी न छोड़े और दूसरों का कर्म चाहे गुण सहित सुन्दर भी हो, तो ग्रहण न करे। केवल चोरी और प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य वंशपरम्परा के भी चाहें तो छोड़े जा सकते हैं।

अर्जुन ने पूछा—स्वधर्म के ही लिये इतना आग्रह क्यों है?

भगवान् ने कहा—इसलिये उस कर्म के संस्कार वंशानुगत हैं। एक व्यक्ति न्यायाधीश है, न्याय करके वेतन से निर्वाह करता है, दूसरा है, मिट्टी के बर्तन बनाकर, घास लोद कर, कपड़े धोकर, कपड़े सी कर निर्वाह करता है। दोनों का निर्वाह ही तो होता है, धर्मवृत्ति रखना दूसरी बात है। एक व्यक्ति मांस बेचते हुए भी पूर्ण धार्मिक रह सकता है, दूसरा यज्ञयाग शुभ कर्मों को करते हुए भी अधार्मिक हो सकता है। रागद्वेष के अधीन होकर जो वर्म करते हैं, ऊपर से कार्य अच्छा भी क्यों न प्रतीत हो, वह अशुभ ही करता है और रागद्वेष से रहित होकर फिर चाहे मांस बेचने का निन्दित कर्म ही क्यों न हो, उससे भी परमाय की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये दूसरों के गुण सहित धर्म से अपना गुण रहित धर्म भी उत्तम है। स्वधर्म का पालन करते-करते मर जाना भी

थ्रेष्ठ है, फिर भी परधर्म को स्वीकार न करे, क्योंकि परधर्म भय का देने वाला है। वास्तव में ये कामनायें ही तो हमें कर्मों में प्रवृत्त करती हैं।

श्रृंन ने पूछा—“भगवन् ! बहुत से ऐसे कार्य हैं, जिन्हें हम करना नहीं चाहते। उन्हें करने की हमारी इच्छा नहीं होती, फिर भी जाने कौन-सी अदृश्य शक्ति हमें बलात् प्रेरित करके हमसे उन कार्यों को करवा लेती है। जिस काम को हम शाखीय समझते हैं जिसके करने से इस लोक में परलोक में सुख बताया गया है, उसे इच्छा रहने पर भी हम कर नहीं सकते। उस शक्ति का नाम बताइये जो हमें हठ पूर्वक-इच्छा न रहने पर भी पाप कर्मों में प्रवृत्त करती है।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! श्रृंन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो इसका मुक्तियुक्त उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आप से आगे कहूँगा। आप सावधानी के साथ इस परम पावन प्रकरण को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अरजुन पूछे फेरि-नाथ ! इक बात बताओ ।
पाप करम क्यों करै मनुज जाहूँ समुझाओ ॥
मन में इच्छा नाहि फेरि हूँ हठवश कोइ ।
मानों प्रेरित करै लगाये वरचस सोइ ॥
प्रवृत्त कौन ताकूँ करै, पाप करम क्यों करतु है ।
आनि वृत्ति सय बात कूँ, कूआ में क्यों परतु है ॥



हत्या की जड़ काम ही है

[१६]

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धुमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥१६॥

(श्री भग०गी० ३ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

हैं सि बोले भगवान्—काम ही है रिपु भारी ।
काम रूप बहु धरे बिगारे बुद्धि हमारी ॥
काम क्रोध बनि जाय रजोगुण के ये सुत हैं ।
लग्गोदर है बड़े करे नित अति भोजन हैं ॥
काम बढ़ो पापी अवल, क्रोध सहित सिर पे लड़ो ।
करम करावै हठ सहित, है यह खल बेरी बड़ो ॥

श्री भगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! वह काम है, यही क्रोध है ।
यह रजोगुण से उत्पन्न होता है, बहुत खाने वाला है, यह बड़ा पापी
है, तू इसे ही इस सम्बन्ध में शत्रु समझ ॥३७॥
जैसे धुँएँ से घाँस तथा मल से देवगुँडका रहता है और जरा से मल
बका रहता है, उसी प्रकार काम के द्वारा यह शत्रु बना हुआ है ॥३८॥

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुण न हों तो यह सृष्टि ही न चले। तीनों गुण परस्पर में मिले-जुले रहते हैं। ब्रह्माजी जैसी-जैसी इच्छा करते गये, वैसी-वैसी सृष्टि बनती गयी। जिस समय उन्होंने जैसा संकल्प किया वैसी ही आकृति बन गयी। सृष्टि संकल्पमय है। कामनामय है। केवल सत्त्वगुण से, भी सृष्टि नहीं होती और न केवल रजोगुण या तमोगुण से। किन्तु जो गुण प्रधान होता है, वैसी ही सृष्टि कहाती है, जैसे सत्त्वगुण वाले जीव रजोगुणी जीव, तमोगुणी जीव आदि-आदि। इसीलिये जहाँ धर्म, की उत्पत्ति ब्रह्माजी से है, वहीं अधर्म भी ब्रह्माजी का ही पुत्र है।

रजोगुण से उत्पन्न जो कामना है, वही संसारचक्र को दृढ़तर बनाती है। सत्त्वगुण की जो कामना है वह संसार बन्धन को ढोला करती है। अतः रजोगुण समुद्भूत कामना का ही निग्रह करना यही पुरुषार्थ है, साधक के लिये यही आदेश है, कि इसके ऊपर वह विजय प्राप्त करे। जीवात्मा जैसा-जैसा ध्यान करता है, वैसी-वैसी ही उस ध्येय विषय में भासक्ति बढ़ती जाती है, उसके प्रति अधिकाधिक लगाव होता जाता है। फिर उस विषय को प्राप्त करने की चाह, इच्छा, वासना अथवा कामना होती है। कामना ही दुःख का कारण है। कामना के अधीन हुआ प्राणी सभी अनर्थ कर सकता है। बलवती कामना विवेक को अपने पास भी फटकने नहीं देती। वह अविवेक को निमग्नित करती है। कामना अनेक रूपवाली है, जब वह पुरुष रूप में प्रकट होती है तब उसका नाम "काम" पड़ जाता है, स्त्री रूप में कामना, वासना-इच्छा कहलाती है। जीवात्मा जब कामना करता है भेरे स्त्री ही तो वह स्त्री वाला बन जाता है, जब कामना करता है में पुत्रवान्, धनवान्, ऐश्वर्यवान् बन जाऊँ तब तैसा बन जाता है। संसार

कीमना करते-करते वह अपने अविवेक को खोकर सर्वज्ञान विमूढ़ात्मा बन जाता है, अपने को ही कर्ता मानकर अनर्थ की सृष्टि करने लगता है।

भगवान् ने इस अनर्थ के क्रम को पीछे बहुत विस्तार से बताया। पहिले पुरुष विषयों का ध्यान करता है। उससे "संग" उत्पन्न होता है। 'संग' से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम। फिर भगवान् ने इन सबसे बचे रहने का भी उपदेश दिया। अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है, कि इन इतने अनर्थों की जड़ कौन है। चोर तो बहुत से हैं, उन्हें कहीं-कहीं मारते फिरते। यदि कहीं चोर की माँ का पता चल जाय, तो पहिले उसी को मार दें, जिससे चोर उत्पन्न ही न हों। महीपि शृगु की पत्नी असुरों को प्रसूय देती थी। असुर देवताओं का अनर्थ करके शृगु पत्नी के पास छिप जाते, भगवान् ने उस शृगु पत्नी को ही मार डाला। इसी प्रकार सब अनर्थों के मूल कारण का पता चल जाता तो उसी से जूझते। इसीलिये अर्जुन ने पूछा—“हमें इच्छा न रहने पर भी ऐसी कौन-सी शक्ति है जो बलात् पापों में लगा देती है। अब उसी का उत्तर सुनिये।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब अर्जुन ने यह पूछा कि हमें बलात् पापों में कौन प्रवृत्त करता है, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—“अर्जुन ! जो हमें बलात् पापकर्मों में प्रवृत्त कराता है उसका नाम “काम” है।

अर्जुन ने पूछा—“काम किसे कहते हैं भगवन् !

भगवान् ने कहा—“संसारी भोगों को भोगने की इच्छा का नाम काम है। भोगों में सुख बुद्धि हो जाने पर उनके अधिकाधिक भोग से हमें अधिक से अधिक सुख मिले ऐसी कामना करने का ही नाम काम है।

भर्जुन ने पूछा—“मान लो, जो कामना करता है, उसकी पूर्ति नहीं होती, या उसकी प्राप्ति में कोई विघ्न डालता है, तब काम का क्या स्वरूप होता है।

भगवान् ने कहा—“कामना, वासना या इच्छा की पूर्ति नहीं होती है और अपने को समर्थ समझता है, तब वही काम ‘श्लेष’ का रूप धारण कर लेता है। जैसे रस ही जमकर गुड़ बन जाता है, जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है, वैसे ही इच्छा पूर्ति न होने पर काम ही श्लेष बन जाता है। दोनों एक ही हैं सगे भाई समझो या पिता पुत्र समझो वैसे सून पुरुष तो काम ही है, किन्तु उसका परिवार बहुत बड़ा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, माया, शठता, हिंसा, कलह, दुश्चिन्ता, भय आदि इसी काम के वंशज हैं। जैसे दूध से दही, मक्खन, मट्ठा, घृत, रवड़ी, खोया आदि बन जाते हैं, किन्तु सबका मूल कारण तो दूध ही है। दूध न हो तो इनमें से एक भी वस्तु न बने। इसी प्रकार काम न हो, तो उसका परिवार भी न बढ़ेगा।

भर्जुन ने पूछा—“इसके ताती पोते पर पोते तो बहुत हैं, यह भी तो किसी का पुत्र होगा यह किससे उत्पन्न हुआ है?

भगवान् ने कहा—“इसके बाप का नाम है रजोगुण, तमोगुण भी चाचा है, किन्तु उत्पन्न यह रजोगुण से ही होता है।

भर्जुन ने कहा—“इस काम का आहार क्या है? कितना खाता है?”

भगवान् ने कहा—“इसके खाने पीने की बात मत पूछो। संसार में ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसे यह खाने खाता हो। कितना खाता है, इसका कोई प्रमाण नहीं। यह इतना भारी पेट है, कि कितना भी खा ले, इसका कभी पेट ही नहीं भरता। बस, कहना तो यह जानना ही नहीं। पर्याप्त है, भ्रम नहीं चाहिये। ये शब्द इसके कोप में ही नहीं हैं।”

अर्जुन ने कहा—इसका स्वरूप है क्या ?

भगवान् ने कहा—पाप ही इसका स्वरूप है। अधर्म ही आधार है।

अर्जुन ने कहा—इस काम से भोग कर ले तो कैसा रहेगा ? तब तो यह बलेश न देगा ?

भगवान् ने कहा—कदापि नहीं, सर्वथा नहीं, इससे मित्रता न करना। इसे तुम इस संसार में अपना सबसे बड़ा शत्रु ही समझो। इस पापी से तो दूर ही रहना अच्छा है।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह काम दिलायी तो देता नहीं। फिर इसे हम कैसे जानें ?

भगवान् ने कहा—जो वस्तु आँख से देखे उसी को तुम मानोगे ? अपनी आँख अपनी ही आँखों से नहीं देखती तो क्या यह कह दोगे, कि आँख नहीं। अपनी पीठ नहीं दिखायी देती। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं देखती उसका अनुमान लगाया जाता है, दूर से अग्नि देखती नहीं, केवल धूँआँ दिखायी देता है। धूँएँ ने अग्नि को ढक रखा है, तो अनुमान लगा लेंगे कि जहाँ-जहाँ धूँआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी चाहे अग्नि दिखायी न दे किन्तु धूँएँ से ढकी रहने पर भी उसको अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कामना पूर्वक की हुई क्रियाओं से 'काम' प्रत्यक्ष-सा दिखायी देता है। उसके कारण ज्ञान दब जाता है।

अर्जुन ने कहा—“अग्नि से ही धूँआँ उत्पन्न होता है, इससे उसका अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु धूँआँ से ढकी अग्नि अपना कार्य-वाहकता-से युक्त तो नहीं हो जाती। अपना कार्य तो करती ही रहती है ? इसी प्रकार काम से ढकने पर भीतर ज्ञान अपना प्रकाश तो फैलता ही रहता होगा ?”

भगवान् ने कहा—दृष्टान्त का सर्वाश नहीं लिया जाता, जितने से प्रयोजन होता है, उतना ही लिया जाता है, यहाँ अग्नि के ढकने से ही प्रयोजन है। धूँआँ अग्नि की प्रकट नहीं होने देता।

अच्छा दूसरा दृष्टान्त लो। जैसे दर्पण है स्वच्छ रहता है, तो उसमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसके ऊपर धूल जम गयी तो उसमें कुछ भी नहीं दीखता। इसी प्रकार जीव तो चेतन्योप है। जब इस पर काम की धूलि जम जाती है, तब उसमें कुछ भी नहीं दीखता कोई भी देखने की क्रिया नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—यद्यपि धूलि के दर्पण में कुछ भी नहीं दीखता, किन्तु उसकी धूलि को स्वच्छ कर दो, तो फिर सब कुछ दीखने लगता है, पुनः अपनी क्रिया करने लगता है।

भगवान् ने कहा—हाँ ठीक है, इसी प्रकार काम रूपी अज्ञान के हट जाने पर जीव को ज्ञान का प्रकाश दिखायी देने लगता है। अच्छा देखो जैसे जीव है, वह जेर से भिल्ली से लिपटा रहता है, तो न तो स्वयं क्रिया ही कर सकता है, न दीखता ही है। भिल्ली के फट जाने पर उससे पृथक् होने पर उसका प्रकाश प्रतीत होने लगता है। सो भैया, जैसे धूल से अग्नि ढकी रहती है, मेल से दर्पण ढका रहता है और गर्भ की भिल्ली से गर्भ गत बालक ढका रहता है, उसी प्रकार यह काम से ढका रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् इस दृष्टान्त को श्रीर भी स्पष्ट करेंगे, तथा काम कहाँ रहता है, उसके अधिष्ठान की बतायेंगे, इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

ज्ञान सदा परकाश नहीं तमते धवरावै ।
ताहि ढके कछु काल घटापन ऊपर आवै ॥
धूर्आ तैं ज्यो अगिनि दिखई देखै साही ।
दरपन में ज्यो मेल दिखै नहि सुख तिहि माही ॥
गरम दप्यो ज्यो जेर तैं, नहि इत उत ताते हिलै ।
करम ढके लो ज्ञान कूँ, कहाँ मोक्ष कैते मिलै ॥

काम के कार्य और अधिष्ठान

[२०]

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४७॥
(भीमगी० गी० ३ अ०, ३६, ४० श्लोक)

छप्पय

काम करावै करम न करिवो तोऊ चाये ।
भोगनि देहि सुगाइ करन मन सँग मिलि जाये ॥
सबई ज्ञान सुलाइ विषय इन्द्रिनि मिलि जाये ।
प्राणी हैकै अवरा विषय बनि केँ कँसि जाये ॥
काम अग्निनि लावै बहुत, तूत न कयहँ होत जो ।
ज्ञानिनि को धैरी बढ़ो, टके ज्ञान की जोति जो ॥
जो अपना प्रबल शत्रु हो और जिस पर विजय करनी हो उसे
भारता हो, तो उसके सम्बन्ध में दो बातें जान लेनी आवश्यक
हैं । एक तो यह कि वह कार्य क्या करता है और दूसरे यह कि वह
रहता कहाँ है । कहाँ रहकर वह अपना कार्य करता है । रहने के

* हे कौन्तेय ! इस धर्म के सदस्य कभी, भी पूर्ण न होने वाले,
शान्तियों के भी शत्रु रूप इस काम के द्वारा शान्त ढका रहता है ॥३६॥
इस काम के इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अधिष्ठान बताये हैं, यह इनके
द्वारा ही ज्ञान को ढकता है तथा जीवार्त्ता को मोहित करता है ॥४०॥

स्थान को गृह, देह, शरीर या अधिष्ठान, अथवा वास स्थान कहते हैं। जिसके रहने के स्थान का पता नहीं चलता, उसे जीतना कठिन हो जाता है।

त्रिपुर निवामी असुर देवताओं को मारकर अपने पुर में छुप जाते थे, और सोने, चांदी तथा लोहे के बने तीनों पुरों में सदा भ्रमते रहते थे। वे कहीं रहते हैं, कहीं से आक्रमण करते हैं, इसका किसी को पता ही नहीं लगता था। उनके निवास स्थान का-अधिष्ठान का-किसी को ज्ञान ही नहीं था। देवताओं ने शिवजी से प्रार्थना की। शिवजी ने सर्वप्रथम आकाश में उड़ते रहने वाले उनके तीनों पुरों का पता लगाया और तब उन पर आक्रमण किया। किन्तु शिवजी को आश्चर्य तब हुआ, जब उन्होंने देखा, जिन असुरों को मैं अभी-अभी मार चुका हूँ, थोड़ी देर पश्चात् वे जीवित होकर पुनः लड़ने आ गये हैं। वे मुत्तक असुरों को उठा ले जाते और अपने पुर में ले जाकर न जाने क्या कार्य करते कि वे पुनः जीवित होकर-पुद्गल करने आजाते। इस-लिये इस बात का पता लगाना भी अत्यावश्यक था, कि वे अपने अधिष्ठान में-वासस्थान में-कार्य क्या करते हैं। पता लगाते-लगाते यह प्रतीत हुआ, कि मायासुर निमित्त उस पुर में एक अमृत कुण्ड है। मुत्तक असुरों को उसमें लाकर डाल दैते हैं उसमें मोता लगाते ही वे जीवित हो उठते हैं। तब मायायी भगवान् विष्णु ने गौ का रून धारण किया, ब्रह्माजी को बछड़ा बना लिया। सबरसा प्यासी गौ उस पुर में छुस गयी और असुरों के देखते-देखते अमृत कुण्ड के समस्त अमृत को पान कर गयी इसी प्रकार-शत्रुघ्नजी-जब सधु-असुर-के-पुत्र-लवणासुर-को-मारने गये, तो पहिले उसके निवास का पता लगा लिया। उसके पास-एक ऐसा दिशाल था, कि उसे जब वह हाथ में ले लेता था, तो संसार में उसे कोई जीत नहीं सकता था। वह एक स्थान में उसे:

रखकर उसकी पूजा करता, और उसे वहीं रखकर आखेट करने जाता। शत्रुधनजी ने उस त्रिशूल के स्थान का पता लगा लिया और उसके द्वार पर धनुष बाण धारण करके बैठ गये। असुर जब आया तो उसे त्रिशूल लेने भीतर नहीं घुसने दिया। भगवान् रामचन्द्रजी के दिये हुए बाण से उन्होंने असुर को मारकर उस पर विजय प्राप्त कर ली और माथुर शूरसेन प्रान्तों के राजा बन गये। इसलिये जिस पर विजय प्राप्त करनी हो, उसके अधिष्ठान का पता प्रथम लगा लेना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि वह करता क्या है। प्राणियों का सबसे बड़ा शत्रु परम पराक्रमी प्रबल बैरी काम ही है। हमें काम पर त्रिपुरारी शिव की भाँति विजय पानी है, तो उसके कार्य तथा अधिष्ठान के सम्बन्ध में जानकारी अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अर्जुन को बता रहे हैं—“अर्जुन! जैसे धुएँ से अग्नि, मेल से दर्पण और जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही इस अनल के सदृश काम रूप शत्रु से ज्ञान ढका रहता है। ज्ञान को दबाये रखना ही इसका कार्य है।”

अर्जुन ने पूछा—“प्रभो! काम को अनल की उपमा आप क्यों दे रहे हैं?”

भगवान् ने कहा—“अनल का अर्थ है, जिसका अलं-पर्याप्ति न हो। उसे अनल कहते हैं। जो खाते-खाते अलं-वस-न करे। आयुर्वेद शास्त्र में एक भस्मक रोग होता है, उस रोग का रोगी किशना भी खाता जाय उसका उसका पेट नहीं भरता। वह यह नहीं बहता कि बस, अब मुझे नहीं चाहिये। अग्नि का भी यही स्वभाव है, प्रज्वलित अग्नि में चाहे जितना घृत, घन साकर्य, ईंधन डालते जाओ। जितना डालते जाओगे उतने ही पदार्थों को अग्नि जलाती जावेगी। वह मना नहीं करेगी कि अब मेरा पेट भर गया, अब मुझे नहीं चाहिये। इसीलिये उसका दूसरा विशेष-

पण है दुप्पूर। अर्थात् जो खाते-खाते कभी रुम न हो, सदा अरुम ही बना रहे, जितना मिलता जाय उतना ही अधिक और खाने की इच्छा बढ़ती जाय। यह कामवासना-भोगों की इच्छा भी ऐसी ही है यह कामवासना कभी रुम नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—“भोग से तो रुम हो ही जाती होगी, जिस विषय के भोग की इच्छा हुई, वह भोग्य वस्तु मिल गया तो भोगेच्छा तो शान्त हो ही जाती होगी ?”

भगवान् ने कहा—“भोगने से भोगों की इच्छा शान्त नहीं होती। महाराज ययाति देवयानी के साथ भोग भोगते हुए अरुम बने रहे, तभी तक उनकी छुड़ावस्था ने धा दबाया। तब शुक्राचार्य की कृपा से वे अपनी छुड़ावस्था को अपने छोटे पुत्र पुरु को देकर उसकी युवावस्था लेकर फिर विषय भोगों को सहसाँ वपौ तक भोगते रहे, किन्तु इतने दिन काम भोगों की भोगते-भोगते भी उनकी रुमि नहीं हुई, अपितु भोगेच्छा अधिकाधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्हें भोगों से वेराग्य हुआ और अन्त में उन्होंने यह गाया गायी—“पृथ्वी भर के चावल जी आदि जितने धान्य हैं, सुवर्ण आदि धन हैं गो, घोडा, हाथी आदि पशु हैं, भोगने योग्य वियाँ हैं, ये सबकी सब एक ही व्यक्ति को दे दी जाय, तो संसार की ये समस्त भोग वस्तुएँ एक पुरुष के मन की भी सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकती। जो काम के प्रहार से जर्जरित हो गया है, विषय भोग की सामग्री उसे कदापि रुम नहीं कर सकती। विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। अपितु भोगने से तो वह और भी अधिकाधिक भड़कती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से उसकी लपटें और ऊँची उठती जाती हैं। विषयों की वृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग अत्यन्त ही कठिनाई से उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूझा हो जाता है, किन्तु वृष्णा निरन्तर नवीन ही होती

जातो है, भूतः जो अपना कल्याण चाहता हो उसे शोभातिशोभं
रुष्णाका-कामवासनाका-भोगेच्छा का त्याग कर देना चाहिये ।”
इस गाथा को गाकर महाराज यथाति वैराग्य धारण करके-पुत्र
को उसकी युवावस्था देकर भोगवासनाधर्म से निवृत्त हो गये ।
इसीलिये मेने कामरूप वासना को हे मेरी ब्रह्मा के पुत्र ! दुष्टुर
अनल को-कभी लप्त न होने वाली अग्नि को-उपमा दो ।

अर्जुन ने पूछा—“यह काम करता क्या है ? कोन सा जादू
करता है ?”

भगवान् ने कहा—यह काम ज्ञान को ढक लेता है ।

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या ?

भगवान् ने कहा—“जिसके द्वारा यथार्थ वस्तु को जाना जाय,
उसी का नाम ज्ञान है ।”

अर्जुन ने कहा—ज्ञान को यह काम ढक कैसे लेता है ।

भगवान् ने कहा—जैसे कुहरा सूर्य को ढक लेता है ।

अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो ! यह काम कामी लोगों के ही
ज्ञान को ढकता होगा, क्योंकि कामी लोग तो कामोपभोग के
समय उसमें सुखानुभूति करते हैं ! ज्ञानी को इसकी चिन्ता न
करनी चाहिये ?

भगवान् ने कहा—“ऐसी बात नहीं है, यह काम कामी
अज्ञानी पुरुषों का भले ही कुछ काल को मित्र सा प्रतीत होता
भी हो, किन्तु ज्ञानियों का तो यह निश्चय बेरी है । ज्ञानी पुरुष तो
भोग के समय भी सुखानुभूति नहीं करता, वह अनुभव करता है,
कि ये भोग अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, इन्हीं के द्वारा मैं संसार में
फँसा हूँ । अतः ज्ञानी भोग काल में भी भोग के अन्त में भी इस
काम से दुःख का ही अनुभव करता है अतः यह काम ज्ञानियों
का तो नित्य ही बेरी है । उनके साथ तो इसका सँधी व्यवहार
कभी सम्भव ही नहीं है ।”

अर्जुन ने पूछा—“महाराज, यह काम रूप शत्रु रहता कहाँ
है ? इसके रहने के स्थान कौन-कौन से हैं ?”

भगवान् ने कहा—यह तुमने बहुत सुंदर प्रश्न किया, शत्रु
के अधिष्ठान का पता लग जाने से वह अत्यन्त ही सुगमता से

जीता जा सकता है। यह काम रूप राशु इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन्हीं स्थानों में रहता है।

अर्जुन ने पूछा—“इन्द्रियों में कैसे रहता है?”

भगवान् ने कहा—“देखो, श्रोत, स्पर्श, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। यह काम इन विषयों में इन्द्रियों की भोगेच्छा-सुखानुभूति उत्पन्न करके देहाभिमानों जीव को मोहित कर लेता है। वैसे ही कर्मेन्द्रियों के वचन, ग्रहण, गमन, त्याग और ध्यानन्द द्वारा भी।”

अर्जुन ने पूछा—“मन बुद्धि में कैसे रहता है?”

भगवान् ने कहा—“जैसे इन्द्रियाँ इसकी अधिष्ठान हैं वैसे ही मन बुद्धि भी। मङ्गल्य विकल्पादि लक्षण वाला मन होता है, निरवधारितात्मिका बुद्धि होती है। काम मन बुद्धि में घुसकर जीव को मोह में डाल लेता है।

अर्जुन ने पूछा—“इसमें प्रधान अधिष्ठान कौन हुआ।”

भगवान् ने कहा—“प्रधान तो मन ही है। मन जैसे-जैसे इन्द्रियों को प्रेरित करता है वैसे-वैसे वे भोगों में प्रवृत्त होती हैं। किन्तु मन स्वयं भोग भोगने में असमर्थ है। क्योंकि ‘मन’ शब्द नपुंसक लिंग है। जब तक इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त न होंगी। मन कुछ कर ही नहीं सकता। इस कारण प्रधानता इन्द्रियों की ही है।

अर्जुन ने पूछा—“तब हम पहले किसका नियमन करें?”

भूतजी कहते हैं—“मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवाद् जो उत्तर देगे, उसका वर्णन मैं आगे वरुंगा।”

छरपप

रहै कहाँ जिह काम ? सकल इन्द्रिनि के साहीं ।

कर्मेन्द्रिय वा ज्ञान उभय कूँ छोड़त नाही ॥

चास करे मन बुद्धि जाइके इह विगारे ।

प्रेरित भोगानि करे अग्नि यहँ भूत सम जारे ॥

इन्द्रिय मन अरु बुद्धि तँ, दफत रहत है ज्ञान कूँ ।

जीवात्मा मोहित करे, प्रेरित करि अज्ञान कूँ ॥

॥ श्री हरिः ॥

संकीर्तन भवन, मूसा (प्रमाण) से प्रकाशित

श्री प्रद्युम्नजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अद्वय पालनीय चार नियम

१. शिखाधारण—प्रत्येक हिन्दु को शिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये ।
२. प्रातः स्मरण—प्रातःकाल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्हीं नामों का स्मरण अवश्य करना चाहिये ।
३. देवदर्शन—नित्य नियम से घास-पास के किसी देवालय या मन्दिर में—दिन में एक बार—किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये ।
४. धर्मग्रन्थ पाठ—किसी भी धार्मिक ग्रन्थ का एक श्लोक अवश्या एक छंद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करे अवश्या सुने ही ।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करे, उतना ही उत्तम है ।

“अधिकस्याधिकं फलम्”

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—प्रथम तक ७० खण्ड छप चुके हैं । प्रत्येक खंड की शीर्षिकाएँ १५० ६५ पंखे ।

श्रीमद्भागवत को उपबन्ध बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित है । पढ़ते-पढ़ते भाषा की वृत्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा भाषने भाष हो पढ़ने लगेंगे । सर्वथा औपन्यासिक शैली में लिखी है, भाषा इतनी सरल और पुरानी है कि छोटे बड़े बालक माताओं तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं । अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छन्द, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका । तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दुष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है, अन्त में एक छन्द देकर अध्याय की समाप्ति की है । प्रत्येक खंड में १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठों का एक खंड होता है । प्रत्येक खंड का मूल्य १) रुपये ६५ पंखे । उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा खरीदत है । ६८ खंडों में तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६६ वें खंड से गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भागवत-गीता का विवेचन हो रहा है । २०) भेदकर स्वाधीन ग्राहक वर्गों । वर्ष के १२ खंड भाषकों पर बड़े २५ पंखों से मिल जाया करेंगे ।

६० खंडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है । दोष खंडों में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है । सभी खंड प्रायः स्वतन्त्र हैं । विद्वानों नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूमिका प्रशंसा की है । हमारा बड़ा प्रयत्न बिना मूल्य मंगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतिमाँ पढ़ें । यह ग्रन्थ किसी का अस्वतन्त्र अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है । हम यहाँ ७० वें खंड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संपादक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

पता—सकीर्तन भवन, सूची (प्रयाग)

[३]

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)

की
भागवती कथा
पर
शुभ-सम्मति

जगभग एक जर्म पूर्व की बात है । श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने, संकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन भी ही करना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी । श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया । सोचा कि वहाँ की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपाशु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरंग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी । इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझ पर श्री भगवान् ने दया कर, मुझे अपने पास खींचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग्य प्राप्त कर दिया । आकारण करण करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझपर अपना चरबहुत साधो रख दिया ।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है । श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ । और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका । भगवान् श्री कृष्ण जी के मधुरा चले जाने के कारण, लोक बिह्वल गोप गोपियों और विशेष कर मन्द बाबा और मसोदा मैया की भाव बिभोर अवस्था का, उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पढ़कर को भी विपला मकने वाला काश्यप रस का उत्कट

पता—संकीर्तन भवन, मूसी (प्रयाग)

भाविकार था। उनकी संतुष्टता देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्भव जी के आगमन पर गोप, गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ, उनका उद्भव जी के साथ हुआ संभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख से सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर अवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करें ?

यह संभव अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन में उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा से श्री मद्भागवत को सरल हिन्दी में प्रसिद्ध करने का सकल्प किया था और उसके अनेक संकट प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुनः स्मरण हुआ जब अद्वैत श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा लेखन का कार्य जो बीव में रुक-सा गया था, उन्होंने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७०० वीं खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप में मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी श्रमोन्मत्ता का कुछ ज्ञान तो आवश्यक है। अतः मैं निश्चय नहीं कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह घुटता करने बैठा हूँ।

इसमें मेरा एक ही काम है। सब वाग्म्यों से माताओं से मैं तब्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह 'श्रीमद्भागवती कथा' अपने पास रखें, उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागवत महापुराण समझना सबके लिए संभव नहीं है। पंडितों की विद्वता की 'साधवते परीक्षा' होती है, यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पंडित कहलाने योग्य माना जा सकता है, ऐसा परम्परा से भवने नहीं बिभास है। श्रीमद्भागवत की रहस्य की श्रुति द्वारा प्रत्यक्ष अभिव्यक्त होती है। जहाँ पंडितों की बुद्धि कुंठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी संस्कृत के अध्ययन की उद्देश्य होने के कारण और भी

पता—सकीर्तन भवन, मूस्सी (प्रयाग)

कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु तथा श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित हो रहे ? यह होना उचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दबन्धु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नहीं सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वसामान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा में बनाना, श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विमुक्त पराभक्ति का बोध सब की भाषनों बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल सुख भाषायुवाद के रूप में न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद्भक्ति में निरपेक्ष लीन रहते हैं। भवतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विमुक्त भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा में श्रीमद्भागवत महापूराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृतसंकल्प हैं। अष्टोत्तरशत खण्डों में ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। उसमें से मह ७० वीं खंड है। शीघ्र ही शेष खंड भी प्रकाशित होने और सामान्य सीधे साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असह्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम भगवत् आकारण कल्याणमय दयाधन श्री भगवान् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्रीभगवती कथा के शब्द देहको धारण कर प्रकट हो और संसार के तप्त जनों की घाति प्रदान करें इस हेतु उनके चरण कमलों में मैं दिनप्रति प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से शोधक से सहस्र पानि सूर्य नारायण की प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह घृष्टता की है, जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त वाचक बुद्ध से क्षमा-याचना करता हूँ।

—भा० स० गोलवलकर

पता—संकीर्तन भवन, भूमी (प्रयाग)

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। संकष्टों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की मुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ रु० ५० पैसे, पाँच संस्करणों में अब तक २३ हजार प्रतिमाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—प्रभुवादक—पं० रामानुज पाण्डेय, बी० ए० विहारद “भागवत चरित ध्यास” भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है प्रथम खंड छप चुका है। जिसमें १२२५ पृष्ठ हैं, मूल्य ८ रुपये। द्वितीय खंड शीघ्र ही छपने वाला है।

४. ब्रह्मनाथ दर्शन—श्रीब्रह्मनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। ब्रह्मनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखण्ड के तीर्थों का इनमें वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपये। भारत सरकार द्वारा महिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

५. महारमा कण—महामारत के प्राण महारमा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा प्रासोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली भीरा—भीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झलकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे है। यह इसका छठा संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन के ऊपर जितनी भी शंकाएँ उठ सकती हैं उनका शस्त्रीय ढङ्ग से युक्तिमत्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झलकी। पृष्ठ सं० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खंडों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमें दिये गये हैं। इसे पढ़कर आप भागवती कथा की झलकी समझ सकते हैं। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—प्रपने प्रिय स्वजनो के वरलोक प्रयाण पर सागरवना देने वाला भाविक पत्र। शोक संतप्तों की संजीवनी झूटी है। पृष्ठ ६४, मूल्य ३१ पैसे। पंचम संस्करण।

११. मेरे महामना मानवीयजी—महामना मानवीयजी के सुलभ

पत्रा—संकीर्तन भवन, मूसी (प्रयाग)

संस्मरण । १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे ।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—यथा अग्निदु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय दृष्टि से प्रमाणों सहित विवेचन बड़ी ही भाविक भाषा में किया गया है, वर्तमान समय में जब विधर्मी अपनी सस्था बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है । पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे ।

१३. प्रयाग साहास्य—तीर्थराज प्रयाग के साहास्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका, मूल्य २० पैसे ।

१४. मुन्दावन मोहास्य—श्रीमुन्दावन के साहास्य पर सधु पुस्तिका । मूल्य १२ पैसे ।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दों में)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ६ अध्याय भागवत चरित से घृषक छापे हैं । रामभक्तों की नित्य पाठ के लिये बड़ी उपयोगी है । पृष्ठ स० १६० मूल्य ४० पैसे ।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसने श्लोको सहित बताई है । श्लोको का भाव दोहाओं में भी वर्णित है । मूल्य २५ पैसे ।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी । प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे । अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं ।

१८. भागवत चरित की खानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरलता जान सकेंगे । पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे ।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों श्लोक हैं । मूल स्तोत्र भी दिये हैं । मूल्य २० पैसे ।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों में श्रीकृष्ण चरित घृषक छापे गए हैं । पृष्ठ स० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे ।

२१. गोपालन शिक्षा—गो कैसे पालनी चाहिये । गोश्रो की कितनी जाति हैं, गोश्रो को क्या आहार देना चाहिये । बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय । कोन-कोन देशों दवाएँ दी जायें, इन सब बातों का इसमें विस्तार वर्णन है । पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे ।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नेपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ शीर्ष है । यात्रा का बहुत ही सुन्दर वर्णन है । नेपाल राज्य तथा नेपाल के समस्त तीर्थों का इसमें विवरण वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे ।

२३. धानवन्दार स्तोत्र मूल तथा छन्दय छन्दों में धनूदित—

पना—संकीर्तन भवन, मूसी (प्रयाग)

श्रीबेण्ण सन्नेय के महाभुनीग्र श्रीमत् पामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० छपी है। भूल्य।

२४. रास पंचाध्यायो—सागवत परित से रास पंचाध्यायो पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्हीं छन्दों में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री बल्लभचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ संख्या १२२, भूल्य।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्य छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक घोर भूल घोर धर्म सहित छापे हैं। उनके सामने धर्म की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३६० है।

२९. हनुमत् शतक—लिख पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०० छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंग तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—धीरहावारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय हैं। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य आँकी की भलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनो भाग मँगार लें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) ६०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २) ६० ५० पैसे।

३२. छप्पय भक्त हरि शतकत्रय—श्री भक्त हरि के नीति, श्रृंगार और वृत्तान्तों की छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत शोभनीय बनावटी में है। (प्रति में)।

३३. श्री-सत्यनारायण प्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में ललितमाह्य का यह सृज, भक्ति और शेष में दी गई है। धर्मो छापी विक्रम ७८ मूल्य ७५ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों का यह शोभनीय प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—बनोबट राम, भागवत प्रेम, ८५२ मुद्रोगर्भ (प्रभाग)

भागवत दर्शन

खण्ड ७२

गीतावार्ता (४)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांति विचिन्विता ।
कृतं वै प्रमुदतेन भागवतार्थं सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✱

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठाानपुर (कूसी) प्रयाग

—:०:—

प्रथम संस्करण] गोप शुक्ल ७ मकर संक्रान्त [सु० १-६५ प०
१००० प्रति २०२६

मुद्रक—बंसीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

सत्यनारायण भगवान् को महिमा अवार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् व्रत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है। सत्य पालन ही संसार में सर्व सुख सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का तटारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते हैं। कलिकाल में सत्यनारायणव्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में प्रलोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, अभी छपी है। पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

व्यवस्थापक

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण (पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सचेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ दूरवीर थे, उनकी महत्ता, दूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३१६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४१ मात्र है, शीघ्र भेगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा (पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने सुना होगा? उनके पद-पद में हृदय को वेदना है अमृत-कर्ण को कसक है। ब्रह्माजी ने मीरा के भावों को बड़ा ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्त्व का मातवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता सभा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
अपनी निजी चर्चा	६
गीता-माहात्म्य	२३
१. इस महापापी काम को मार डालो	३३
२. काम शत्रु को मारने का अंतिम उपाय	४०
३. परम्परा प्राप्त योग	४५
४. भक्त सखा समझकर तुमसे रहस्य कहता है	५७
५. अज्ञान होकर भी मैं जन्म लेता हूँ	६४
६. मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ	७३
७. मेरे दिव्य कर्मों का वेत्ता मुझे ही प्राप्त होता है	८१
८. जो मेरी जिस रूप की पूजा करते हैं, उन्हें मैं उसी रूप से फल देता हूँ	९०
९. गुणकर्मोंनुसार बाह्यवर्ण व्यवस्था	९८
१०. कर्म का रहस्य और कर्म करने की शक्ति	१०४
११. कर्म, अकर्म और विकर्म	१०६
१२. कर्मफल की शक्ति छोड़ने वाला पंडित करता हुआ भी कुछ नहीं करता	११४
१३. केवल शरीर से सम्बन्धित कर्म करने वाला साधक पाप का भागी नहीं होता	११६

(३)

१४. ब्रह्मापेक्ष-यज्ञ	
१५. विविध भाँति के यज्ञ (१)	१३२
१६. विविध भाँति के यज्ञ (२)	१४०
१७. विविध भाँति के यज्ञ (३)	१४५
१८. सभी यज्ञ कर्म अनित होते हैं	१६०
१९. ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है	१६७
२०. संसार सागर से पार होने को ज्ञान-इक्ष्वाक नौका है	१७४
२१. ज्ञानाग्नि प्ररम पावन है	१७९
२२. श्रद्धा ही ज्ञान में मुख्य कारण है	१८५
२३. अतः ब्रह्मापेक्ष सुद्धि से कर्म करो, उठो, मुद्ध में डूब जाओ	१९४
२४. संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्षप्रद है	२०२
२५. संन्यास तथा कर्म योग दोनों ही समान है	२१०
२६. संन्यास से कर्म योग की विशिष्टता	२१६



अपनी निजी चर्चा

[३]

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-

श्रोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।

दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्विग्राहं-

भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ।*

(श्री भाग० ७ स्क० ६ ध०, १७ श्लोक)

छप्पय

चाहे हिय में धरयो दूरि आति सतत रहे ते ।
जिनि ते रंच न प्यार दारि हिय माहिँ दरे ते ॥
नाना योनिन मध्य नाथ हम गटक रहे हैं ।
रहियो चाहे निकट और ह दूरि भये हैं ॥
होहि भकि तव चरण में, साधन मुलम मुकाइ दें ।
अब तक भटके मूल में, अब तो प्रभु अपनाइ लें ॥

* मैं बहुत सी योनियों में भटकता फिरा । जहाँ भी गया वही प्रिय का वियोग और अप्रिय की प्राप्ति यही होता रहा । दुःख निवारण की जो औषधि की वह भी दुखरांभी हो मिट्ट हुई । जो धारमा नहीं है ऐसी अनित्य वस्तुओं की धारमा समझकर मैं न जाने कब से भटक रहा हूँ, मुझे यह बतावो कि भाव का दास्य योग मुझे कैसे प्राप्त होगा ।

(७)

अनेक योनियों में नाना रूप बनाकर जीवन जाने कब से भटक रहा । इसे शाश्वती शान्ति प्राप्त नहीं होती । जिसे शाश्वती शान्ति का साधन समझकर उसे पाने का प्रयत्न करता है, उससे और अशान्ति बढ़ती है । हम समझते हैं धनिक लोगों को शान्ति होगी, किन्तु जब उन्हें देखते हैं, वे हम साधारण लोगों से भी अधिक अशान्त हैं । जो अपने को उच्च कुल का कुलीन समझकर दूसरे कुल होने को हेय दृष्टि से देखते हैं, उन्हें भी हम अशान्त ही पाते हैं, जो बड़े आचार विचार से जप अनुष्ठान करते हुए समय बिताते हैं, उनके भीतर भी एक छिड़ी हुई अशान्ति रहती है । युवा संस्थापन नवयुवक जो सदा सर्वदा सबकी खिस्ली ही उड़ते रहते हैं, वास्तव में देखा जाय, तो वे अपनी अशान्ति का ही प्रदर्शन करते फिरते हैं जो सुन्दर स्वरूपवान् लड़का-लड़की अपने सौन्दर्य के सम्मुख अन्य सभी साधारण रूप वालों की तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, वास्तविकता से देखा जाय तो वे भी दुखी हैं, अशान्त हैं, उन्हें भी कोई भारी अभाव अनुभव होता रहता है । जिन्हें हम बहुत भारी विद्वान् शास्त्रज्ञ समझते हैं और सोचते हैं, शाखाध्ययन से इन्हें शान्ति मिल गयी होगी, वे सुखों से भी अधिक अशान्त देखे जाते हैं । इसलिये हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि संसारो पदार्थों में शान्ति नहीं । हमें शान्ति वनी रहती है, अपने से कोई किसी काम में बड़ा हो, तो हम अनुमान लगा लेते हैं, यह सुखी होगा, किन्तु वास्तव में सभी अशान्त हैं, सभी भटक रहे हैं, सभी किसी न किसी अभाव का अनुभव कर रहे हैं । इसका कारण यही है कि हम संसारो पदार्थों में शान्ति खोज रहे हैं, जहाँ जो वस्तु है ही नहीं वहाँ उसे खोजना अनाड़ीपन है ।

एक बुढ़िया थी, चौराहे पर कुछ खोज रही थी, एक आदमी

(८)

ने पूछा—“बूढ़ी माँ ! क्या खोज रही हो ?”

बुढ़िया ने कहा—“वेडा ! सुई खोज रही हूँ ।”

आदमी ने कहा—“चौराहे पर सुई कहाँ से पाई ?”

बुढ़िया ने कहा—“कल रात्रि में मेरे घर के आँगन में सुई खो गयी थी । सो खोई हुई को खोजती हूँ ।”

उस आदमी ने हँसकर कहा—“माँ घर के आँगन में खोई सुई को चौराहे पर खोज रही हो, बड़ी उलटी बात कर रही हो । उसे जाकर घर के आँगन में ही खोजो ।”

भारतवर्ष में बेला जाय, तो वह बुढ़िया ही उलटी बात नहीं कर रही है, हम सब उलटी बात कर रहे हैं । जो शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श हमें बन्धन में डालते हैं, संसार बन्धन के-अशान्ति के-मूल कारण हैं, हम उन्हीं में शान्ति खोज रहे हैं । शान्ति तो श्याम सुन्दर के चरणारविन्दों में है, हम जितने ही विषयासक्त हैं, उतने ही जाते शान्ति से दूर हटते जाते हैं । किसी प्रकार प्रभुपादारविन्दों में अनुराग हो जाय, तो संसार के सभी विषय, संसारी सभी मान प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति फोकी दिखायी देने लगे, किन्तु भगवत पादारविन्दों में प्रेम होता नहीं । जब तक प्रेम न होगा वह भटकन न समाप्त होगी । जीव नाना कारणों से दुर्धर-उधर भटकता ही रहेगा । तो भव भटकने की ही थोड़ी सी मद्धु कहानी सुनिये ।

हाँ तो अनशन के पहिले तीर्थयात्रा करने का निश्चय हुआ । अनशन आरम्भ होना या गोपाष्टमी से हमने यात्रा आरम्भ की भाद्र की अन्तर् चतुर्दशी के लगभग । सोचा यह था—दो महीने में जिनने तीर्थों को यात्रा हो सकेगी, उतनी कर लेंगे । गोपाष्टमी से एक या दो दिन पूर्व आकर अनशन पर बैठ जायेंगे । इसके पूर्व भाद्रपद की तैयारियाँ होने लगी, एक बड़ा प्रदर्शन सनातन

घमें सभा के माध्यम से हुआ। पूर्ण सफल रहा। बहुत से वन्धुओं ने हमारे साथ अनशन करने की इच्छा प्रकट की। उन सबके नाम प्रकाशित हुए। प्रश्न यह था, कि अनशन किया कहाँ जाय ? सबकी एक स्वर से सम्मति थी, 'कि भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में अनशन हो। लोगों की तर्क यह थी, कि आन्दोलन केन्द्र में हो रहा है, अतः यहाँ अनशन होने से केन्द्रीय सरकार पर विशेष दबाव पड़ेगा, राजधानी के कार्यों का समाचार पत्रों में प्रकाशन भी अधिकता से होगा, इसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी है। सबकी सम्मति थी जो भी कुछ हो दिल्ली में हो ही। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं था। मैंने कहा—“मैं न तो किसी पर दबाव डालने को अनशन कर रहा हूँ, और न मुझे प्रकाशन की चिन्ता है। मैं तो अपने श्याम सुन्दर गोपाल के सम्मुख अनशन करूँगा। गोपाल की श्रीडा भूमि रासस्थली वृन्दावन में करूँगा। वृन्दावन नगर में भी नहीं। घोर वन में राधारानी के पावन क्षेत्र में। जहाँ कृष्ण से छूठ कर मान करके मान सरोवर के निवट लुठो हुई राधारानी अभी तक वैठी हैं, वही उसी गोलोक में जहाँ मनुष्य कठिनता से पहुँच सके, वही करूँगा। मैं गोलोक को छोड़ कर दूसरे किसी स्थान पर अनशन नहीं करूँगा। फिर चाहे प्रचार हो या न हो, किसी पर दबाव पड़े या न पड़े।” अतः मेरा तो गोलोक में अनशन का निश्चय हो गया। अब बहुत ही संक्षेप में गोलोक का परिचय पाठकों को करा दूँ, जिससे पूरी स्थिति समझ में आ जाय।

जहाँ आज कल वृन्दावन नाम का नगर मथुराजी से ६ मील दूर बसा हुआ है, उसके उस पार मथुराजिले की माट नाम की तहसील है। माट के चौर घाज से नहीं। ५०० वर्ष से बहुत प्रसिद्ध है। एक सुप्रसिद्ध कथा है कि मदन मोहन जी

(१०)

के मन्दिर के ऊपर सुवर्ण का एक बड़ा भारी कलश था, किसी ने कहा—असली चोर हम उसे जानें जो इस सुवर्ण कलश को उतार लावे। मन्दिर के चारों ओर रात्रि भर पहरा रहता था। माटका एक चोर गया। रात्रि में जो घंटा बजते हैं, उस घंटों की ध्वनि के साथ वह मन्दिर में लोहे की कोलें गाड़ते-गाड़ते ऊपर पहुँच गया। तभी तक पहरे वालों को पता, चल गया, चोर कलश लेने ऊपर पहुँच गया है, लोग डकट्टे हो गये। चोर सुवर्ण कलश लेकर श्वावण भादों की बरी हुई यमुनाजी में ऊपर से ही कूद पड़ा और कलश को लेकर पार हो गया। यह ध्राज से ४००।५०० वर्ष पुरानी बात है, वह लाल पत्थर का मन्दिर बिना कलश के ज्यों का त्यों ही अभी तक खड़ा है, और उस चोर की बहादुरी का बखान कर रहा है, इसीलिये ब्रज के रसिक भक्तों ने गाया—

‘धनि-धनि माँट गाँव के चोर।’

उस माँट गाँव से लगभग २-२। मील, कुंभावन से लगभग एक डेढ़ मील गोलोक है। जहाँ ध्राज गोलोक है, वहाँ किसी काल में बड़ा ही चोर सघन बन था। मुसलमानी बादशाहों के समय में बड़े-बड़े अधिकारी यहाँ शेर चीते का शिकार करने आते थे। राघारानी जी का मन्दिर है, मानसरोवर है। महाप्रभु हित हरि वंशजी द्वारा सेव्य मानवतो राधाजी का यहाँ छोटा सा-मन्दिर है। महाप्रभु हितहरिवंशजी की यह मजल स्थली है। परम रसिक हरिदासजी महाराज भी यहाँ कुछ काल रहे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहाँ श्रीमद्भागवत का सप्ताह किया था। महाप्रभु जी की बैठक अभी तक विद्यमान है। लोग ऐसा कहते हैं, कि पहिले यमुना जी राघारानी से उबर ही थी। राघारानी मन्दिर इसी

पार था। अब यमुनाजी बढ़ते-बढ़ते इधर आ गयी हैं, राधारानी का मन्दिर उस पार हो गया। अभी तक राधारानी से मील भर दूरी पर यमुनाजी के कगार विद्यमान हैं। राधारानी क्षेत्र यमुनाजी के वल-स्थल में है। जहाँ आज गोलोक बना है, वही रास श्रीवास्थल है। वहीं श्रीकृष्णचन्द्रजी ने वासुदेव बजाकर सखियों को बुलाया था। वहीं से राधाजी रास में से रुठकर मान करके मानसरोवर पर जा बैठी।

आज से २०-२२ वर्ष पहिले तक यहाँ हींस, करील और छौकराघों के वृक्षों का सघन बन था। दिन में भी कोई अकेला आदमी वहाँ नहीं जाता। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को राधारानी का मेला लगता तो बहुत से लोग मिलकर पगडीडियों से जाते। वृन्दावन से माट वाली सड़क तो अभी ५-६ वर्ष पूर्व मेरे सामने बनी है। पीपों का पुल तो उसी वर्ष से बालू हुआ है जिस वर्ष गोलोक में डेढ़ सौ महीने का पुलिनवास मेला लगा था। २०-२१ वर्ष पूर्व ही जहाँ गोलोक है उस सघन बन में लगभग ५००-६०० जंगली गोरू और लगभग दो-ढाई हजार जंगली सूअर रहा करते थे। जंगली गोरू बन गावें नहीं था। जिन पर गोरू बरती नहीं थी, वे अपनी गौधों को छोड़ आते थे। सर्वथा स्वतन्त्र रहने से वे जंगली हो गयी थीं। उनके बड़े सुन्दर-सुन्दर बच्चे होते उन्हें पानी गाँव या आस-पास के गाँव के लोग किसी प्रकार चोरी छिपे पकड़ ले जाते। गोरू स्वच्छन्द घूमते रहते। वर्षा में यमुनाजी का जल भर जाता था। गोरू सूअर, कैंसे भी दिन काटते। अंगरेज लोग भी यहाँ सूअर का शिकार खेलते आते। ऐसा था गोलोक-बनने से पूर्व का यह बन। सदा से इस बन में छुट्टल-स्वतन्त्र-गोरू ही निवास करते।

अंगरेज सरकार की "अधिक भ्रष्ट उपजाओ" नामक योजना

चली। उस योजना को बकहट्टि इस गोमों के वन पर भो पडो। सरकार ने जंगली गोमों को पशुवाना चाहा। राजस्थान के गोपालने वाले लाल पगडो वाले स्वाले ऊँटों पर चढ़कर गोमों को पकड़ने आये। उन्होंने ऊँटों पर चढ़कर गोमों का पीछा किया, कुछ गोएँ मर गईं किन्तु वे वश में नहीं आईं। तब कुछ स्वाले अपनी ४००-५०० गोएँ लेकर कार्तिक महीने में जब यमुना जी चट गयीं तब यहाँ आकर रहने लगे। वे अपनी गोमों को चराकर यहाँ लाकर बँटाते। धीरे-धीरे जंगली गोएँ उन गोमों से हिल-मिल गयीं। उनके साथ चरने भी आने लगी। साथ-साथ उठने बैठने खाने लगीं। शनैः-शनैः उन स्वालों ने गोमों के गलों में रस्सी डालना आरम्भ कर दिया। ६ महीने में जंगली गोएँ हिल-मिल गयीं। अपनी गोएँ के साथ वे इन सबको भी राजस्थान ले गये। इस प्रकार यह वन गोएँ से तो खाली हो गया। अब रह गये जंगली सूअर। इसके लिये सरकार ने कंजरा जाति वालों को बुलाया जो सेहू धादि वो भी मार लेते हैं। उन्होंने शनैः-शनैः सभी जङ्गली सूअरों को मार डाला। फिर इस वन के वृक्ष काटे गये। भाट के पास ही एक राया गाँव है। राया के विधायक चौधरी जी ने एक बड़ा कृषि संघ खोला। उसके द्वारा इस भूमि को जोतने वीने योग्य बना दिया। वह कृषि संघ घाट के कारण अस्त-व्यस्त हो गया। सरकार से भी बहुत-सा खर्च लिया था। सरकार ने बौड़ी के दामों में उस भूमि को नीलाम कर दिया। लोगों ने १०-१०, २०-२० एकड़ जमीने नीलाम में खरीद ली। यह सब बौड़ स्वराज्य हो जाने के पश्चात् हुआ।

इसके पश्चात् बंशीवट पर हमारा बंशीवट विहारो गिरि-चारी जी का मन्दिर बना। पहिले यह राधा धवागढ़ की बुज्ज भी उसे ही हमने खरीद लिया। उसकी संकीर्तन भवन धार्मिक

न्यास (दृष्टः) बना । तभी एक वर्ष का गोब्रत हुआ । हम प्रातः-काल गोधों को लेकर यमुना जी को पार करके उस पार गोधों को चराने से जाते । सायंकाल लोटकर बंशीवट के आश्रम में आ जाते । पहिले घुन्दावन भर की सहस्रों गैयाँ उसी पार चरने को जाया करती थीं, तब तक उस पार विशेष खेती आदि नहीं होती थी, सब गोचर भूमि ही थी । जब वह क्षेत्र पानी से परिपूर्ण हो जाता था, उसने दिनों तक तो गैयाँ उस पार जाती नहीं थीं, नहीं तो बारहो महीने गोएँ उसी पार चरने जाती थीं । आषाढ़, श्रावण में जब यमुना जी पूरी भर जाती तब सहस्रों गोएँ तैरती हुई बहुत सुंदर लगती थीं तैरते हुए उनके सींग ही सींग दिखायी देते थे । ग्वाला गोधों की पूँछों को पकड़कर पार होते थे । उस दृश्य को मैं बाल्यकाल से ही देखता रहा था । हम गोधों की पूँछ पकड़ कर पार नहीं होते थे, हम तो नौका से जाते दूसरे भाले हमारी गोधों को लेकर उस पार हो जाते ।

उस पार हमने यमुना जी के किनारे एक शीशम के वृक्ष के नीचे, यमुनाजी ढाह को खोदकर एक भोपड़ी डाल रखी थी । उसके चारों ओर सुंदर चबूतरा बना रखा था, उसे गौ के गोबर से लीप पीतल के स्वच्छ रखते । हम वहीं बैठे रहते । गोएँ आस-पास चरती रहतीं । वही पंर ह्याक लेकर आश्रम से कच्चा, उबिला तथा अन्योन्य मातीयें मटठा लेकर दोपहर के समय आतीं । सभी गोपाल साथ बैठकर भोजन करते, बहुत से दर्शनार्थी कोतुलवश आ जाते कि देखें ब्रह्मचारी भी गोएँ कैसे चराते हैं । हम लोग टाट ही पड़िते, टाट ही झोड़ते, टाट ही बिछाते थे । गोधों के बीच में ही रात्रि में सोते थे । जीवन गोमय बन गया था । जहाँ उस पार हमारी बैठक भोपड़ी चबूतरा था, वहाँ बहुत से भंडारे भी होते । १० - २० आदिमियों की पांत तो प्रायः निरन्तर होती ।

(१४)

कभी-कभी रासमण्डली धाकर रास करती। गोचारण का वर्ष भर उत्सव ही था।

उसी समय समीप की कुछ भूमि को धपने धात्रम की ओर से क्रय करने की बात चली। १० एकड़ भूमि क्रय करके उसमें गोधाम बनाया। गोधाम के समीप ही एक ४० एकड़ का फार्म था, रामे के लाला वसन्तलाल जी ने वह फार्म बनाया था। चारों ओर तारों से घिरा था पानी की मशीन (ट्यूबवेल) लगा था। कुछ दिन तक उसमें गेहूँ हुए, ईख हुई, भ्रमरुद्धों का बग़ाचा लगा। पीछे घाटा लग जाने से कई वर्ष से वह वैसे ही वीरान पड़ा था। उसमें एक छोटी-सी पक्की कुटिया भी थी। इतने भारी कछार भर में वही एक पक्की कुटिया थी। पीछे से उसे भी क्रय कर लिया गया। उसकी चहारदीवारी बनायी, पक्के मकान बनाये। बड़े-बड़े कमरे शौचालय, स्नानघर, मशीनें बैठायी और उसी सबका नाम 'गोलोक' रखा गया। पुलिनवास मेले के समय तो 'गोलोक' देश भर में विख्यात हो गया। उस समय उसमें दूरभाष (टेलीफोन) तार, डाकघर, पुलिस थाना सब कुछ बन गया था। हुन्दावन से यहाँ तक बिजली लग गयी थी। पीपों का पुल भी उसी वर्ष से चालू हो गया था देश के प्रायः सभी प्रान्तों के सहस्रों भक्त वहाँ रहते थे। ६ स्थान पर धीराधा जी की, ललिता, विशाखा आदि अष्ट सन्धियों के नाम से अष्टनिकुल और एक धीराधा के नाम की नवमी कुल इस प्रकार नवनिकुल बनी थी। उन सबमें चौबीसों घंटे पृथक्-पृथक् भखंड कीर्तन होता था। वह दृश्य अपूर्व था, अलौकिक था सभी प्रायः के भक्त धपनी-धपनी धनियों से चौबीसों घंटे ध्वनिवर्षक (लाउड-स्पीकर) लगाकर कीर्तन करते रहते थे। भाद्रपदमास से ही लग-भग २०० - २५० भक्त आये थे। नेपाल से ४००१५०० विहार से

१५० - २००। इसी प्रकार बंगाल, आसाम, राजस्थान आदि से मकगण पधारे थे। फूस का एक बड़ा भारी पंडाल बनाया गया था, जिसमें ८-१० हजार दर्शनाधी बैठ सकें। उसमें भी प्रातः-काल से रात्रि के एक दो बजे तक कार्यक्रम चलते रहते थे। देश भर के प्रायः सभी बड़े-बड़े महात्मा उसमें पधारे। भिन्न-भिन्न विषयों के प्रायः २२। २४ सम्मेलन हुए। उस दृश्य की तो जिसने देखा होगा वही उसका अनुमान लगा सकता है। १०८ पाठकों द्वारा नौ दिन तक रामचरित मानस का नवाह, १०८ पंडितों द्वारा १०८ श्रीमद्भगवत के सप्ताह, १०८ व्यासों द्वारा १०८ से भी बहुत अधिक "भागवतचरित" के सप्ताह, गोपालयज्ञ आदि अनेकों कार्यक्रम हुए। लगभग दो महीनों तक मथुरा के श्री गणेशजी चतुर्वेदों द्वारा "भागवतचरित" के द्वारा श्रीकृष्णलीला हुई। उस आनन्द का वर्णन लेखनी के बाहर की बात है।

उन विशाल पण्डाल के सम्मुख ही मेरी कच्ची मिट्टी की बनी कुटिया थी। उसके चारों ओर फूस की टटिआओं का बड़ा बाड़ा था, चारों कीलों पर चार गोल फूस की कुटियायें थीं। बैठने की बड़ा भारी छप्पर का उसारा था, वह सदा गोबर से लोप पोतकर स्वच्छ रखी जाती थी। उसी में मैं रहता था। भीड़ का कोई ठिकाना ही नहीं था। हजारों लाखों नर-नारियों की भीड़ बनी रहती।

पुलिनवास मेला समाप्त हो गया। चैत्र में-आवृत्त भादों में यमुना जी की वाढ़ आई पुरा गोलोक स्थान राधारानी तक जलमय हो गया। जिधर देखो उधर जल, कहीं पता ही नहीं कहाँ नेपाली कुल्ल थी, कहीं प्रांभ्र वाली कुल्ल, कहीं आसाम तथा वङ्गाल की कुल्ल। सब स्थान जलमय। हमारी कुटिया का नाम निशान नहीं रहा। यह है अत्यन्त संक्षेप में गोलोक का परिचय।

(१६)

हाँ तो इसी गोलोक में मुझे अनशन करना था। बाढ़ तो आई उतर गयी। बड़ी हुई यमुना अपनी सरसो और नयी मिट्टी छोड़कर चली गयी वह नयी मिट्टी खाद का काम देती है। उससे फसल दुगुनी तैयार होती है। जैसे दश मन अन्न हो तो बाढ़ आने पर बीस मन। गोलोक में बाढ़ प्रति वर्ष नहीं आती। जैसी बाढ़ उस वर्ष आई वैसी ४० वर्ष पहिले कभी आई थी। थोड़ा बहुत पानी तो प्रतिवर्ष ही प्रायः आ जाता है, किन्तु २-४ दिन रहकर उतर जाता है, किसी वर्ष गोलोक तक पानी आता ही नहीं। अनशन के वर्ष सबसे बड़ी बाढ़ आई और प्रायः एक महीने तक गोलोक के सभी भवन जल-मग्न रहे। वहाँ की गोएँ तथा अन्य पशु दूसरे स्थान में भेज दिये गये। जिस समय हमारी तीर्थयात्रा रेलगाड़ी चलने वाली थी, गोलोक जलमग्न था। मेरी कच्ची कुटिया घराबानी होकर अदृश्य हो गयी थी। प्रमिसात बन गयी थी। मुझे आशा थी बाढ़ १०।२० दिन में उतर जायगी। कांतिक शुक्ला गोपाष्टमी तक गोलोक निवास योग्य बन जायगा। मैं अपने आदमियों से कह गया था, जैसे ही बाढ़ का पानी उतर जाय, तैसे ही मिट्टी के गारे की जैसी पहिले कुटी बनी थी वैसी ही कुटी बना देना। उसके चारों ओर की दीवारें तो गीली मिट्टी से बनायी जाती हैं। ऊपर फूस के छप्पर से छाई जाती है, एक छोटी कुटिया, उसके सामने एक छोटा-सा बरामदा चारों ओर फूस की बाढ़। यही उस कुटिया का स्वरूप था।

गोब्रन के समय मेरा सम्पूर्ण शरीर काला पड़ गया था तथा अत्यन्त ही कृश हो गया था। उसी निर्वलता में १४ कोश की निरिराज गोवर्धन की परिक्रमा की। हजारों आदमी साथ थे, वहाँ गोवर्धन पर अमङ्कट का जो पृष्ठभोज हुआ, वह अनुपम था,

(१७)

उस दृश्य को बिना देखे कोई उसका अनुमान भी नहीं कर सकता। हमारे श्री देवरहावावा जी पुलिनवास भेले में मञ्च पर बराबर रहे और वहाँ गोवर्धन के अलङ्कृत में भी पधारे। उस समय जोश में, निर्वन्ता में पंदल परिक्रमा कर तो ली, किन्तु उसमें वायु विकृत हो गयी। हाथ पैरों में खुद्द नवात हो गयी। हाथ की तो ठोक हो गयी। पैर की अभी तक ठोक नहीं हुई, किन्तु उसकी कुछ भी परवाह न करके हम अनन्तचतुर्दशी के लगभग दिल्ली में तीर्थयात्रा के लिये चल दिये।

वह तीर्थयात्रा रेल अपने ढंग की निराली थी। देश में उसके कारण कितनी हलचल हुई कैसा-कैसा प्रत्येक स्टेशन पर उसका स्वागत हुआ यह तो एक मुश्किल विषय है, इसका बख़ौन एक लेख में नहीं कोई यात्री इस पर एक पूरा पुस्तक लिखे तभी उसका दिग्दर्शन हो सकता है। स्थान-स्थान पर सभायें हुईं, प्रत्येक स्टेशनो पर अश्रुतपूर्व स्वागत हुआ। इस कार्य में हमारे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयं सेवकों ने अपूर्व उत्साह दिखाया हमारे उत्तरप्रदेश के प्रमुख प्रान्त प्रचारक रज्जुभैया ने जो परिश्रम किया वह तो अवर्णनीय है। वे स्वयं एक सामारण दर्शक की भाँति भीड़ में दिखायी देते थे, जैसे पुरे नाटक की योजना करके, उसके पात्रों के अभिनय वाटकर स्वयं आकर साधारण दर्शकों की पंक्ति में बैठकर नाटक को देखता, यही कार्य रज्जुभैया ने किया। लखनऊ का वह मध्य भरा मञ्च, प्रयाग की शोभायात्रा का वह दशहरे जैसा दृश्य, कानपुर के फूलबाग का वह अविस्मरणीय समारोह और फिर वाराणसी की शोभायात्रा और टाउन हाल की सभा ने तो सभी को मात कर दिया। कितने लाख नर-नारी इसमें सम्मिलित हुए कुछ कहने की बात नहीं। ८०। ८०। ८०। ८०। ८० वर्ष के बूढ़ों के मुख से सुना गया है, कि

(१८)

हमने अपने जीवन में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा । उस समय के युत्त पत्रों में ये सब समाचार प्रकट हो चुके हैं कोई यात्री लेखक इसका सन्निस्तार कभी वर्णन करेगा, हमें तो अपने विषय पर आ जाना चाहिये ।

हाँ तो देहली, हरिद्वार, ऋषिकेश, लखनऊ, प्रयाग, काशपुर, काशी, बंधनाथ, कलकत्ता, कटक, भुवनेश्वर, पुरी, वालटेयर, सिहावलम्, राजमहेन्द्रो, बंजवाड़ा मदरास, चिदंबरम्, कांची, कुमकोणम्, मदुरा, रामेश्वर आदि होते हुए पुनः मदरास लौट आये । मैं तो रेल में बहुत ही कम बैठे, स्वयंसेवक बन्धु मुझे तो मोटरों द्वारा न जाने कहाँ-कहाँ ले जाते और फिर १०० २००/१०० मील पर चलकर हमारी माड़ी से हमें मिला देते । फिर मदरास से जो रेल छोड़ो तो फिर छूट ही गयी । पूरे मदरास प्रान्तभर की यात्रा मोटरों से ही की । रेल अपने मार्ग से पथ तें कर रही थी, हम मोटरों से घूम रहे थे । श्रीरंगम् में एक दिन रेल दिखायी तो दो कुछ दूर उस पर चढ़े भी किन्तु श्रीरामेश्वर से लौट कर मदरास तक मोटरों में ही आये ।

कार्तिक कृष्ण पक्ष में (७ नवम्बर) को एक १० लाख-नर-नारियों के प्रदर्शन का निश्चय पहले ही हो चुका था । मदरास में मुझे मेरी समिति के बन्धुओं का आदेश मिला कि प्रदर्शन में मदरास से तो कम ही लोग आवेगे अधिकांश पंजाब से आवेंगे । अतः ७ दिन में पूरे पंजाब के दोरे का कार्यक्रम बनाया है आप तुरन्त वायुयान से पंजाब के दोरे के लिये आ जाओ । जिस दिन आदेश मिला उसी दिन चन्ना था वायुयान में ३ स्थान पहले से ही निश्चित करा लिये थे । वायुयान दापट्टर के पश्चात् चलने वाला था । मदरास प्रांत के मेरे प्रयप्रदर्शक प्रबंधक साथी राम स्वामी ने कहा—एक साधु एक बहुत बड़ी भूमि गीर्वा के निमित्त

दे रहे हैं, आप उसे चलकर देख लें। रामराज रामानुज आदि पड़ले चलकर वायुयान में घपना सामान रखकर स्थान ग्रहण कर लें। वायुयान में छूटने की देरी नहीं थी, किन्तु भूमि के लोभ से मैंने इसे स्वीकार कर लिया। साथी लोग वायुयान स्थल की ओर चले गये और मैं रामस्वामी के साथ एक दोघ्र गामो मोटर में चढ़कर भूमि देखने चल दिया। गाड़ी पूरी वेग से दौड़ रही थी। आगे रेल के फाटक के पास त जाते कि ससे मोटर इतने वेग से टकराई की उसका इन्जन चानाचूर हो गया। चालक दात विसत होकर रक्त से सना हुआ मोटर से छुटका पड़ा। रामस्वामी भी रक्त से नहा गये। मैं सबसे पीछे धकेला था। दोनों ओर से मोटर में भिज गया छार्च में चड़े वेग से धक्का लगा। माये में बोड़ी चोट आयी।

किन्तु स्वयं सेवक की कर्तव्य परायणता तो देखिये रक्त में सने रामस्वामी ने कहा—महाराज ! आप किसी प्रकार वायुयान को पकड़े। कोई मोटर हो तो उससे चने जाय, यह कहकर वह बेझोरा हो गया। मेरी दृष्टि तो नहीं थी, अपने साथी को इस दगा में छोड़कर जाऊँ, किन्तु एक तो स्वयं सेवक की आशा, दूसरे पंजाब का कार्यक्रम। लोग कितनी उस्तुकता से प्रतीक्षा करते होंगे, मैंने अपने दोनों साथियों को उसी दशा में छोड़कर जाने का निश्चय किया। दुर्घटना के कारण दर्शकों की भीड़ लग गयी। कई मोटरें भी खड़ी हो गयी। एक मोटर वाले ने मुझे पहचाना स्वीकार किया। आँखों में आँसू भरकर राम स्वामी को देखता हुआ मैं मोटर में बैठ गया। उन मोटर वाले राजकीय अधिकारी को किसी आवश्यक कार्य से जाना था। वह मुझे एक टैक्सी में बिठाकर चला गया। टैक्सी ने मुझे वायुयान-स्थल पर पहुँचा दिया। मेरे साथी अव्यस्त ही

(२०)

उत्सुकता से बेरो प्रतीक्षा कर रहे थे। वायुयान के छूटने का समय समाप्त हो चुका था, मेरे पहुँचते ही हड़बड़ाहट के साथ रामानुज ने कहा—“यदि १५।२० मिनट वायुयान लेट न होता तो आज न मिलता। दौड़कर ज्योंही वायुयान में बैठे, स्थिति तो बहुत सीटी देकर उड़ गया। अब मुझे अपनी छाती की चोट की याद आई। छाती को साफी से कसकर बाँध दिया। २।२। घंटे में वायुयान देहली पहुँच गया। ७ ता० का प्रदर्शन था। ८ को हमारा कार्यक्रम पट्टरपुर में था, अतः ७ ता० के शाम के वायुयान से स्थान प्रतिरिक्त कराया टिकटें ली और जयदयाल जी डालमिया के यहाँ पहुँचे। डालमियाजी को पत्नी किसी प्रकार चाहती नहीं थी मैं ऐसी दशा में पंजाब के दोरे पर जाऊँ। उन्होंने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने भी यही सम्मति दी ऐसी दशा में आपको जाना नहीं चाहिये, किन्तु इन सात दिनों में स्वयं सेवक वन्धुओं ने एक-एक दिन में ८-८-१०-१० स्थानों में कार्यक्रम रखे थे। समय पर न पहुँचेंगे तो लोगों में कितनी निराशा होगी। उस समय लोगों में गौरक्षा के लिये अपार जोश था, वे सब कुछ करने की उद्यत थे, हमें भी चढ़े हुए तंदूर पर चपातियाँ सिकनी थीं। तंदूर के ठंडा होने पर उसे गरम करने में बड़ी देर लगेगी। अतः मैंने कुछ नहीं कहा और मैं सो गया।

प्रातःकाल सबके मना करने पर भी मैं भगवान् का नाम लेकर मोटर में बैठ गया। दो मोटरें तैयार हुईं वे सात दिन में पूरे पंजाब जम्बू तक हमें घुमाकर ६ ता० को देहली ले पावेंगी। इस निश्चय के साथ हम सब भगवान् का नाम लेकर इनका स्मरण करते हुए चल पड़े। ७ दिन में पूरे पंजाब का दौरा किया। एक-एक दिन में ८-८-१०-१० समाजों में भाषण

करके हम देहलो लौट आये। रात्रि में बुन्दावन आकर बुन्दावन विहारो का दर्शन किया ७ ता० को गोरक्षा के निमित्त महात्मा ऐतिहासिक प्रदर्शन था। लगभग १० लाख की भीड़ एकत्रित थी। जिधर देखो उधर गोरक्षकों की बसें मोटरों का रे लगी थी। उस प्रदर्शन में जो भी कुछ हुआ सभी को विदित है, अधिकारियों की योजना क्या थी इसे तो भगवान् ही जानें।

एक साधु ने बड़े उत्तेजित स्वर में आकर कहा—“यहाँ क्या बैठे हो समद भवन पर सत्याग्रह करो।” मैंने तुरन्त उनके हाथ से ध्यनिवर्धक यन्त्र छीन लिया और कहा—आज हमारा कार्य क्रम सत्याग्रह का नहीं है, केवल प्रदर्शन मात्र का है आप बैठ जायें।

उन्होंने कहा—“मुझे पाँच मिनट का समय मिला है, मुझे बोलने तो दीजिये।”

मैंने कहा—“मैं समिति का अध्यक्ष हूँ मैं आपको बोलने की आज्ञा नहीं देता।” वे बैठ गये। दो भाषण और हुए और फिर हे भगवान् ! पीछे से आधु गैस के गोले छूटने लगे।

अपने जीवन में मैंने आधु गैस के गोले नहीं देखे थे, माघ मेले में हमारे यहाँ सड़कों पर चूना छिड़का जाता है। मैंने समझा गन्दगी को दूर करने को चूना छिड़क रहे हैं, किन्तु वह तो जादू का चूना था। बात की बात में हमारी भरी हुई मंच पूरी खाली हो गयी। सब नीचे लुढ़क गये, भीड़ में भकदड़ मच गयी। गोलियाँ चलने लगी। लोग हताहत होकर रक्त में स्नान करने लगे। एक मात्र मैं मंच पर खड़ा-खड़ा देखता का देखता हो रह गया। नीचे खड़े-मेरे साथी लड़कों ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया—“महाराज जी ! महाराज जी ! आप कृप पड़िये वहाँ न रहिये, गोलियाँ चख रही हैं। अब मुझे होश हुआ।

(२२)

मंज बहुत ऊँची थी मैं कूद पड़ा। तीन-चार लड़कों ने मुझे बीच में ही लपक लिया, और मुझे लेकर चलने लगे। आँखों में अश्रु गैस का धुआँ भरा हुआ था। लड़के भीगे कपड़े से मेरी आँखों को पोछते जाते थे और भीड़ में मुझे लिये जा रहे थे। आगे एक पानी पिलाने वाली मोटर मिली। उसमें हमारे परिचित ये लड़कों ने मुझे उसमें बैठा दिया और बाजार लेन में स्व० लाला सूरज नारायण जी के घर जहाँ मैं ठहरा था, पहुँचा दिया।

अध्याय तो समाप्त हो गया। इतना ही स्थान सुरक्षित था, अतः पाठक अब आगे की कहानी अगले श्रंक में पढ़ें। अब तो भागवत दर्शन के गीता वार्ता के अगले प्रकरणों को सुनें अब तक तो यह विषय प्रवेश हुआ। अब आगे यथार्थ कहानी आवेगी।

छप्पय

देख्यो आँसु पसार जगत में सब प्रपञ्च है।
सुख जिनमें हय लखे न तिनिमें शांति रंज है ॥
माया रूप बनाय विविध विधि सम्मुख आवै।
चाक चिन्मय कै निरलि अज्ञ धन्य न धि जायै ॥
सबहिं शाय इक स्वर कहत, तय चरनि महि धृष्टुभय।
चरन शरन जिनने लई, तिनिने पायो पद अमय ॥



गीता--आहात्म्य

[३]

(तृतीय अध्याय)

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयी नन्दहरिः
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदप्रसू शंख
(महाभारत)

छाप

गीता को अध्याय तीसरो है अति भावन ।
ज्ञान करम संग्यास योग जामें मन भावन ॥
जनस्थान जड विप्र वृत्ति बनिया अपनाई ।
दुष्कर्मनि धन नश्यो गयो पुनि करन कमाई ॥
धन लेके लौटयो पथहिं, आया एक तरुतर जवहिं ।
चोरनि मारयो लोभवश, लूट ले गये धन सवहिं ॥

यह जोव पूर्व जन्मों के संस्कारों के वशीभूत होकर कर्म करता रहता है, कुछ कर्म पुण्यमय होते हैं, कुछ पापमय । कुछ कर्मों के करने से संसार बन्धन होता, कुछ कर्मों से संसार ढोला होता है । कभी-कभी अनजान में हमारे द्वारा ऐसे कर्म हो जाते

* गीता सब शास्त्रमयी है, भगवान् हरि समस्त देवमय हैं । गङ्गा जो सब तीर्थमयी है और मनुस्मृति सब वेदमय है ।

(२४)

है, जो हमें नरक में ले जाते हैं, और कभी अपने आप ही ऐसे पुण्यप्रद कर्म हो जाते हैं, जो हमें स्वर्ग तथा बंधुंड तक ले जाते हैं। कौन सा कर्म शुभ है, कौन सा अशुभ इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान चकरा जाते हैं। बहुत से कर्मों का तो सब पता चलता है जब उनका फल प्रत्यक्ष होता है। पुराणों में ऐसे सहेलों आशयान है, कि अनजान में ऐसे-ऐसे कार्य हो गये हैं, जो पश्य पुण्यप्रद थे। और मनुष्य से वे कर्म बिना इच्छा के स्वतः ही हो गये थे। कोई चुहिया थी, शिवजी के मन्दिर में जलते हुए दीप की बत्ती खाने बंठी थी, कि दीपक बुझने ही वाला था, ज्यों ही चुहिया उसे खाने को लपकी त्यों ही एक बिल्ली घा गयी। बिल्ली को देखकर चुहिया क्षोभता से भागी। क्षोभता में भागने से दीपक की बत्ती ऊँची हो गयी। दीपक क्षीघ्र ही बुझने वाला था, किन्तु बत्ती उँची होने से कुछ देर और भी जलती रही। इसी पुण्य से वह चुहिया अगले जन्म में एक बड़े भागी राजा की रानी हुई। उसे पूर्व जन्म की याद थी, इसलिए वह सदा मन्दिरों में सहेलों दीपक जलवाया करती थी। राजा ने जब उससे इतने दीपक सदा जलवाने का कारण पूछा तो उसने अपने पूर्व जन्म का यह वृत्त बताया। चुहिया ने जान बूझ कर यह सुकृत नहीं किया था। उससे अकस्मात् ऐसा शुभ कार्य बन गया।

एक आदमी पान खाया करता था। पान में जूना लगाकर बचे हुए जूने को उसने मन्दिर में पीछ दिया। इसी पुण्य से उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, क्योंकि मन्दिर का कुछ भाग उसने जूने से रंग दिया था। यह जूना लगाने का पुण्य उससे अकस्मात् हो गया।

एक व्यासा कीआ पानी की तलाश में इधर-उधर घूम रहा

(२५)

था, एक मन्दिर में चरणामृत रखा था। पुजारी वहाँ था नहीं। कोआ जल समझ कर उसे पी गया। इससे वह स्वर्ग गया। बिना जाने ही उससे यह अकाल मृत्युदर सर्वव्याधि विनाशक विष्णु चरणामृत पीने का पुण्य मिल गया।

एक पक्षी मन्दिर पर बैठा था, उतने में ही एक बाज उसकी ओर भपटा। बाज से बचने के लिये उसने तीन बार मन्दिर के चक्कर लगाये। अन्त में बाज ने उसे मार डाला। वह स्वर्ग गया। अनजान में उसे भगवद् मन्दिर की परिक्रमा करने का पुण्य मिल गया। इस प्रकार की अनेकों कथायें भिन्न-भिन्न पुराणों में भरी पड़ी हैं। आधुनिक विचार के लोग इन्हें गल्प समझेंगे। वे भले ही गल्प समझते रहें। जो सुकृत कर्म है पुण्य प्रद कार्य है, वे जान में अनजान में कैसे भी हो जायें अच्छा ही फल देंगे।

स्कन्द पुराण में ब्रह्माद के वीर विरोचन के पुत्र परम दानो देशपराज बलि की पुत्र जन्म की एक कथा आती है। ये पूर्वजन्म में एक बड़े भारी जुआड़ी थे। जुआड़ी से कोई पाप कर्म बचानही रहता, वह धन के लिये चोरी व्यभिचार, हत्या, हरण सब कुछ करता है। इस जुआड़ी का किसी परम सुन्दरी वेश्या से सम्बन्ध था। वेश्यायें तो धन की भूखी होती हैं। जो धन दे, उसकी प्यारी जो धन न दे सके उसकी हथोरी। उसे वे मार कर भगा देती हैं। इस जुआड़ी पर भी धन नहीं था। वह वेश्या इससे स्नेह नहीं करती थी। एक दिन इसे जुआ में बहुत सा धन मिला। तब यह बड़ी प्रसन्नता से उस वेश्या को रिझाने के लिये उसके घर की ओर चला। उसे देने की सुन्दर द्रव्य बहुमूल्य पुष्प हार तथा पान का स्वस्तिकार धोड़ा बनाकर ले चला। हर्ष में भरा खीप्रता पूर्वक जा रहा था। मार्ग में किसी वस्तु में ठोकर खाने

से उसके पैर लड़खड़ाये, वह गिर पड़ा बेहोश हो गया, किन्तु हाथ की वस्तुएं गिरो नहीं। कुछ देर में उसे उसकी मुछी भंग हुई। उसे अपने दुष्कर्मों पर परम पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा—एक अधम वेश्या को रिक्ताने को मैं यह क्या कर रहा हूँ। देव की गति तो देखिये जहाँ वह गिरा था वहाँ एक शिव मन्दिर था, वह उठा और उसने अपनी समस्त वेश्या के निमित्त लाये हुई सामग्री शिवलिंग पर चढ़ा दी। कुछ दिन पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। यमदूत उसे पकड़ कर यमराज के पास ले गये। यमराज जी ने अपने मुनीम जी चित्रगुप्त जी से उसके पाप पुण्य का लेखा जोखा पूछा। चित्रगुप्त जी ने अपनी बही में सब उसके पुण्य पाप देखकर यमराज से कहा—यमराज ! इसने तो जीवन भर पाप ही पाप किये हैं, इसे तो घोर नरकों में डालना चाहिये।

यमराज ने कहा—“फिर से देख लो, कोई पुण्य कर्म भी इससे हुआ है या नहीं ?”

चित्रगुप्त जी ने कहा—मरने से कुछ समय पूर्व इसने कुछ गन्ध, पुष्पों का हार पान का बीड़ा शिवजी पर चढ़ाया है। यही इससे एक महान पुण्य बना है।

यमराज ने उस जुआड़ी से पूछा—तुम पहिले अपना पुण्य भोगोगे या पाप ?

उसने कहा—“महाराज, जीवन भर मैंने पाप तो किये ही हैं। पापों का फल तो मुझे भोगना ही है। यदि मेरा कोई पुण्य हो, तो पहिले मैं उस पुण्य का ही फल भोगना चाहूँ।”

पुण्य साधारण नहीं था, अतः उसे तीन षट्टी के लिये इन्द्र बना दिया गया। तीन षट्टी के लिये बृहस्पति जी की सम्मति से इन्द्र अपने इन्द्रासन से हट गये। स्वर्ग का शासन तीन षट्टी के

लिये इनके अधिकार में आ गया। इसने सोचा—‘ऐसा अबसर बार-बार नहीं आता है। इतनी भारी सत्ता हाथ में आई है, क्यों न मैं इस समय का और इस इतनी बड़ी स्वर्गीय सम्पत्ति का सदुपयोग कर लूँ। ‘कर ले सो काम भज ले सो राम’ तीन घड़ी पश्चात् तो ये सब सामग्रियाँ छूट ही जायँगी। दान-पुण्य करके मैं इसका सदुपयोग कर लूँ तो अच्छा है। यह सोचकर तुरन्त उसने, सभी ऋषि महर्षियों को बुला भेजा। तुरन्त स्थानापन्न इन्द्र की आज्ञा से ऋषि मुनि आ गये। अब उसने दोनों हाथों से लुटाना आरम्भ कर दिया। स्वर्ग की जो वस्तु सामने आती उसी को किसी महर्षि को तुरन्त दे डालता। ऐरावत हाथों को अगस्त्य जी को दान कर दिया। इसी प्रकार उच्चैःश्रवा घोड़ा को विश्वामित्र जी को, कामधेनु गौ को वसिष्ठ जी को, चिन्तामणि रत्न को गालव जी को, कल्पवृक्ष को कौण्डिन्य मुनि को तथा जो भी बहुमूल्य वस्तु सामने आई सभी को सभी महर्षियों में बाँट दिया। दान पुण्य करते-करते ही तीन घड़ी का समय ख़तीत हो गया। वह चला गया। इन्द्र ने अपनी सम्पत्ति हीन पुरी को देखा। बृहस्पति जी की सम्पत्ति से ऋषियों को द्रव्य दे देकर वे सब सामग्रियाँ फिर उन्होंने कब कर लीं।

स्वर्ग में भी दान देने से उसका पुण्य श्रक्षय हो गया, अब वह जुआड़ी-बिना नरकों की यातना भोगे महादानी असुरेन्द्र महाराज बलि हो गया। जिसके द्वार पर वामन बनकर भगवान् विष्णु ने भी मौख माँगी। यह सब दैव विपाक से अकस्मात् ही सब कुछ हो गया। ऐसी ही कथा श्री मद्भगवत् गीता के तृतीय अध्याय के महात्म्य की है।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने आपको श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुनाया।

अब जिस प्रकार पार्वती जी के पूछने पर शिव जी ने, लक्ष्मी जी के पूछने पर भगवान् विष्णु ने तीसरे अध्याय का माहुरम्भ कंहा, उसे अब मैं आप के सुनाता हूँ। पार्वती जी के पूछने पर शिवजी कहने लगे—“देवि ! प्राचीन काल में दक्षिण देश के जनस्थान में जड़ नाम का ब्राह्मण रहता था। वह केवल नाम का ही ब्राह्मण था, कर्म उसके स्लेच्छों के समान थे। ब्राह्मणों का सा उसका कोई भी आचरण नहीं था। उसने ब्रह्मवृत्ति त्यागकर व्यापार दुकानदारी का व्यवसाय कर लिया था। वह व्यापार से जो धन कमाता उसे सुरावन, परस्त्रीगमन तथा जुआ आदि में व्यतीत करता। कालांतर में वह धन हीन हो गया। अब उसकी कोई बात भी नहीं पूछता। लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं, जब तक जिससे अपना कोई स्वर्थ सधे, तब तक वह प्यारा जहाँ स्वार्थ में आघात पड़ा, तहाँ राम राम जो राम राम जी। तुम अपने घर हम अपने घर।

जब उसका अपने देश में निवाह नहीं हुआ तो वह उत्तर दिशा की ओर व्यापार करने चला गया। व्यापार में तो वह बहुत निपुण था ही, उसने वहाँ जाकर बहुत सा धन पैदा कर लिया। अब उस सम्पूर्ण धन को लेकर वह अपने नगर की ओर चला। आठ दश दिन तक चलते-चलते वह एक वन में पहुँचा। वहाँ उसे रावि हो गयी। चोरों ने जब उसके पास बहुत धन देखा, तो उसे पकड़ लिया। सब धन छीन लिया और यह जाकर किसी को बताने नहीं इस डर से उसे मार कर वहीं आस पास गड्ढे में फेंक दिया।

अपने दुःकर्मों के कारण वह बड़ा भारी प्रेत बनकर उस पेड़ पर रहने लगा। प्रेतों का शरीर सूख होता है, उनका मुख मुँह के छिद्र से भी छोटा होता है। भूख लगने पर वे खा नहीं

सकते। प्यास लगने पर पास में पानी होने पर भी पी नहीं सकते। वासनायें वे हो सब पुरानी धनी रहती हैं। इससे उन्हें अत्यन्त ही पीड़ा होती है। दूसरे बड़े प्रेत उसे यातनायें भी देते हैं इस प्रकार वह प्रेतयोनि में नाना यातनाओं को भोगता हुआ उस छोकरे के पेट पर रहने लगा।

उस जड़ का पुत्र एक बड़ा घमात्ता था कभी-कभी दुष्टों के भी प्रह्लाद की भाँति घमात्ता पुत्र हो जाते हैं। यह भी किसी पूर्व जन्म कृत सुकृत का ही फल है। उसका पुत्र सदाचारी घमात्ता, मातु-पितृभक्त तथा संव्यावन्दन नित्य कर्म करने वाला था। उसने बहुत दिनों तक तो अपने पिता की प्रतीक्षा की, जब बहुत दिन ब्यातीत होने पर भी वह न लौटा, तो उसने उसकी बहुत खोज की, किन्तु कुछ भी पता न चला। वह इधर-उधर खोजता हुआ फिर ही रहा था, कि उसे एक परिचित व्यक्ति मिल गया। उससे उसने अपने पिता का वृत्तान्त पूछा।

उसने कहा—भाई ! मैंने उसे अति हुए देखा तो था, वह मेरे यहाँ ठहरा था, घर की बहुत सा धन लेकर जा रहा था। पीछे मैंने सुना चोरों ने एक धनिक को मार डाला उसका सब धन छीन लिया। हो न हो वह तुम्हारा पिता ही होगा। अब तक घर नहीं पहुँचा तो वही होगा।

अब पुत्र को पूरा विश्वास हो गया, मेरे पिता की अकाल मृत्यु हुई है, चोरों ने धन के लोभ से उनके प्राण ले लिये हैं उनकी अवश्य ही दुर्गति हुई होगी। चलो, काशी जी में चलकर उनके श्राद्धादि कर्म करें। यही सोचकर वह श्राद्ध की बहुत सी सामग्री लेकर काशी जी को ओर चल दिया।

संयोग संस्कार तो देखिये, चलते-चलते उसे उसी स्थान पर रात्रि हो गयी, जहाँ चोरों ने उसके पिता का सर्वस्व छीनकर मार

डाता था और वह प्रेत बनकर उसी वृक्ष पर रहता था। ब्राह्मण कुमार ने उस पेड़ के नीचे ही अपना आसन लगाया। समीप ही जलाशय था, नित्यकर्म से निवृत्त होकर वह सो गया। प्रातः-काल होने पर वह स्नानादि से निवृत्तकर सन्ध्यावन्दन करने लगा। वह नित्य गीता के एक अध्याय का पाठ भी किया करता था। सन्ध्यावन्दन जप करने के अनन्तर उसने गीता के एक अध्याय का पाठ किया। संयोग की बात कि उस दिन पाठ के लिये उसका तृतीय अध्याय ही था। ज्योंही उसने गीताओं के तीसरे अध्याय का पाठ समाप्त किया, त्योंही उसने एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा। उस दृश्य को देखकर ब्राह्मण कुमार तो परम चकित रह गया। देखा एक परम रमणीय दिव्य विमान स्वर्ग से उतर रहा है। वह विमान उसके समीप ही आकर खड़ा हो गया। उस वृक्ष से एक प्रेत उतरा। देखते ही देखते उसका शरीर दिव्य हो गया। वह साक्षात् देवस्वरूप बनकर विमान में आकर विराजमान हो गया। विमान में बैठते ही उसने कहा—“बेटा ! तुम धन्य हो तुमने मेरा उद्धार कर दिया।”

ब्राह्मण कुमार ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से पूछा—
“महाभाग ! आप कौन हैं ?”

उस दिव्य पुरुष ने कहा—“बेटा ! मैं तुम्हारा अभिभी पिता ही हूँ। मैं व्यापार से प्राप्त बहुत-सा धन लेकर आ रहा था, यहाँ चारों ने मुझे मारकर मेरा सब धन छीन लिया। अकाल मृत्यु होने से तथा पाप कर्मों के कारण, मैं चिरकाल से प्रेतघाति में रहकर मानायातनार्थी को भाग रहा था। तुमने श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय को सुनाकर मेरा उद्धार कर दिया। धन्य है गीता माता और धन्य है उसका तीसरा अध्याय जो पापियों को

(३१)

भी श्रवणमात्र से पावन बना देता है। वेडा ! जैसे पाप मैंने किये हैं, वैसे ही मेरे बड़े भाई ने भी किये हैं, मेरे परिवार वालों की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। वे सब नरक में पड़े हुए नाना यातनाओं की भोग रहे हैं। उन सबका भी तुमको उद्धार करना चाहिये। अब तुम्हें काशी आदि जाने की आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय से तुमने मेरा तो उद्धार कर ही दिया, अब अपने दूसरे चञ्चुवान्धवों का भी इसी से उद्धार करो।”

ऐसा कहकर वह दिव्यरूपधारी व्यक्ति विमान में बैठकर दिव्यलोकों में चला गया। इधर यह ब्रह्मण पुत्र भी प्रसन्नता पूर्वक अपने नगर में लौट आया। अब इसे तीसरे अध्याय के महत्त्व का बोध हुआ। अब उसने एक भगवान् के मन्दिर में बैठ कर श्रद्धापूर्वक तीसरे ही अध्याय का पाठ आरम्भ कर दिया।

मेरे परिवार के सभी लोगों का नरक से उद्धार हो, इस सकल्प से वह नित्य नियम से गीता के केवल तीसरे ही अध्याय का पाठ किया करता था। उसके पाठ के प्रभाव से उसके कुल के जितने भी लोग नरक में पड़े हुए थे, उन सबका उद्धार हो गया। वे सब दिव्य शरीर धारण करके विष्णु पापदों के कहने पर यमराज के कारागार से मुक्त होकर, दिव्य विमानों पर बैठकर दिव्यलोकों की ओर चले गये।

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! यह है श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय का महनीय माहात्म्य जो इसे श्रद्धाभक्ति के साथ पढ़ेगा या सुनेगा ही उसकी भी सद्गति होगी। यह मैंने आपसे गीताजी के तीसरे अध्याय का माहात्म्य सुना दिया। अब आगे (अगले खण्ड) में आपको चतुर्थ अध्याय के माहात्म्य की

(३२)

सुनाऊंगा । जिस प्रकार शिवजी ने पार्वती जी को ओर भगवान् विष्णु ने श्री सद्मो जी को सुनाया था ।

छप्पय

पुत्र प्रतीक्षा करी फेरि सब परिचय पायो ।
काशी करिबे आब चलयो ताही तर आयो ॥
गीता को अध्याय तीसरो पाठ करयो जब ।
त्यागि असुखि तनु तुरत प्रेत पितु दिव्य भयो तब ॥
पिता पुत्र आयसु दर्ई, कुल सयरो नरकनि परयो ।
पुत्र पाठ तैं विप्रसुत, स्वयं तरयो कुल ह तरयो ॥

संकीर्तन भवन, भूँसी } मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी
(प्रयाग) } (गीता जयन्ती)

इस महापापी काम को मार डालो

[२१]

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि क्षेमं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(श्री भग० गीता ३ अ० ४१, ४२ श्लोक)

छप्पय

तार्ते सवर्ते प्रथम सीख अरजुन ! मम मानो ।
इन्द्रिनि कूँ वश करो द्वार इनही कूँ जानो ॥
इन्द्रिय ही घर कह्यो काम इनही में आवे ।
इन्द्रिय वश करि लेउ काम तुरतहि मगि जावे ॥
इन्द्रियवित्त यदि होउगे, काम-शत्रु नहि जाइगो ।
ज्ञान और विज्ञान रिउ, पापी यह मरि जाइगो ॥

ॐ इसलिये हे भक्तु ! तुम सर्व प्रथम इन इन्द्रियो को ही वश
में करके ज्ञान विज्ञान के नाशक इस महापापी काम को ही नाश
कर दो ॥४१॥

विषयों से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है
और बुद्धि से भी परे वह (मात्मा) है ॥४२॥

क्रम-क्रम से चढ़ने पर मनुष्य सबसे ऊपर चढ़ जाता है, वृष चाहौ, हम छलांग मारकर एक दम ऊपर चढ़ जायें, तो गिर ही पड़ोगे। तुम्हें राजा के पास जाना है, तो पहले प्रहरी के पास जाओ। प्रहरी तुम्हें मन्त्री के पास ले जायगा। मन्त्री राजा से मिला देगा। जो ऐसा न करके सर्वप्रथम ऊँचे ही चढ़ जाना चाहते हैं, वे निराधार होने के कारण गिर जाते हैं। इस संसार में नाना प्रकार के पदार्थ हैं, कुछ तो गाने बजाने वाले हैं, कुछ दृश्य देखने योग्य हैं, कुछ छूने से सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाले, कुछ चलकर रसाश्वसन कराने वाले हैं कुछ सूँघकर सुगन्धि-दुर्गन्धि का ज्ञान कराने वाले हैं, इन सब पदार्थों का ज्ञान हमें इन्द्रियों के ही द्वारा होता है, इन्द्रियाँ अपना कार्य न करें तो इन पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी हम उन्हें उपयोग में नहीं ला सकते। नाना भाँति के रंग-विरंगे फूल खिले हुए हैं। ऊपर से देखने को चक्षुओं के गोलक ठीक है, ज्यों के त्यों बने हैं, उनमें शीशा चमक रहा है, पसक झप रहे हैं, किन्तु उनमें सक्षु इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर रही है, वह देखने में समर्थ नहीं है, तो विषय सम्मुख रहते हुए भी व्यर्थ है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझो। नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ सम्मुख उपस्थित हैं, हाड़ मांस की बनी सुंदर नासिका (गोलक) में दिखायी दे रही है, किन्तु उसमें घ्राणेन्द्रिय अपना कार्य नहीं करती, तो उन सुगन्धित पदार्थों का रहता व्यर्थ है। इसी प्रकार रसना, स्पर्शन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ विषयों को इन्द्रियों की धपेसा है और इन्द्रियों को विषयों की धपेसा है। तभी तो कहीं इन्द्रियों को विषयों से पर बताया है और वहाँ विषयों को इन्द्रियों से पर बताया है। गीतानार विषयों की धपेसा इन्द्रियों को पर मानते

हैं। इन्द्रियों से परे मन है। यद्यपि मन भी इन्द्रिय-करण-है किन्तु दोनों में अन्तर इतना ही है, कर्मिन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्यकरण-वाहरी इन्द्रियाँ-हैं और मन, बुद्धि, चित्त, और अहं-कार-ये भीतरी सूक्ष्म इन्द्रियाँ-अर्थात् अन्तःकरण है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म और बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तः इन्द्रिय-अन्तः-करण सूक्ष्म है श्रेष्ठ है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। जैसे इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकों के बिना विषयों का साक्षात्कार नहीं कर सकतीं, वैसे ही इन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना अपने व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकती। मन यदि दूसरे विषय में फँसा हो, तो विषयों का इन्द्रियों के साथ संसर्ग होने पर भी वे उसको ग्रहण नहीं कर सकतीं। इस विषय में भागवतकार ने दृष्टांत दिया है।

एक बाण बनाने वाला था। उसकी दुकान राज पथ के किनारे ही राजपथ से सटी हुई थी। बाण जब तक सर्वथा सीधे नहीं होते तब तक लक्ष्य वेधने में समय नहीं होते। अनुप बाणों के युद्ध की परम्परा प्रायः समाप्त हो जाने से अब उतने बाण बनते नहीं। पहले नगरों में बहुत-सी दुकानें बाण बनाने की ही होती थीं, और बाण बनाने वाले तन्मय होकर उन बाणों को सीधा किया करते थे। उनमें तनिक भी टेढ़ापन वे नहीं छोड़ते थे।

राजपथ के किनारे वाला बाणकार अपने बाणों को सीधा करने में इतना तल्लीन था-उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया था-कि राजा की सवारी बड़े धूम-धाम से उसके सामने से निकल गयी। राजा के साथ-रथ, हाथी, घोड़ा तथा पैदल सैनिकों की-चतुरंगिनी सेना थी। आगे-आगे भीति-भीति के बाजे बजते जाते थे। राजा भी पालकी पर नहीं हाथी पर

वेठा था। सहस्रों पुरुष राजा का जय जयकार करते जाते थे। जब राजा की शोभायात्रा निकल गयी, तब किसी सैनिक ने उससे आकर पूछा—“क्यों भाई, इधर से राजा की शोभा यात्रा गयी है क्या?”

उस बाण बनाने वाले ने कहा—“मैं नहीं जानता।” क्यों नहीं जानते जी तुम? राजा के साथ चतुरंगिनी सेना थी, लाखों आदमी उनके साथ में थे, तुम्हारी भाँखें खुली थीं, तुम घ्राँघ बन्द करके सो भी नहीं रहे थे, बाजे वेग के साथ बज रहे थे, तुम्हारे कान खुले थे, तुम बहरे भी नहीं थे, फिर भी क्यों नहीं देखा सुना?”

इसका एक ही उत्तर है, मेरा मन कहीं दूसरे स्थान में—बाणों को सीधा करने में—लगा था। मन की सहायता के बिना इन्द्रियाँ विषयों का साक्षात्कार कर नहीं सकती। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, पर है। मन भी केवल संकल्प विकल्प ही कर सकता है। इस काम को करें या न करें। यह अच्छा है या बुरा, इससे लाभ है या हानि। मन अपने विचार की बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत भर कर सकता है। यह निरर्थक निरवधारिता बुद्धि ही दे सकती है, कि इसे करना चाहिये या न करना चाहिये। इससे लाभ होगा या हानि, बुद्धि जो भी निर्णय दे देगी, उसी के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा उस कार्य को सम्पन्न कराने की आज्ञा दे देगा। इससे विद्वद्द हमारा मन की अपेक्षा बुद्धि स्पष्ट है, सूक्ष्म है पर है बुद्धि से परे महत्त्व है और महत्त्व से परे अग्राह्य अर्थात् प्रकृति है। महत्त्व, प्रकृति ये समाष्टि तत्त्व हैं, शरीर में बुद्धि तक ही सीमित है और ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं, इस व्याप से गीताकार बुद्धि से परे परमात्मा को बताते हैं। उन परमात्मा से परे कुछ भी नहीं है, वे

परमात्मा ही अन्तिम सीमा है, सबसे उत्कृष्ट है, वे ही चरमलक्ष्य हैं। पराकाष्ठा है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान ने इन्द्रियों को मन को शरीर बुद्धि को काम का अधिष्ठान रहने का स्थान बताया, तब अर्जुन ने पूछा—पहिले हम किसका नियमन करें, पहले किसे वशीभूत करने की चेष्टा करें।

इस पर भगवान् ने कहा—“हे भरत कुलभूषण अर्जुन ! पहिले तुम इन्द्रियों को अपने वश में कर लो।”

अर्जुन ने कहा—“प्रभो ! इन्द्रियों के वश करने से क्या होगा ?”

भगवान् ने कहा—“अरे, भाई ! करने कराने वाली तो सब इन्द्रियाँ ही हैं। सम्मुख कोई सुन्दर सुगन्धित फल रखा है, मन उसे देखकर ललचा उठा, बुद्धि ने भी उसका साथ देकर उसे उठाकर खाने की स्वीकृति दे दी। किन्तु तुम इन्द्रियों को रोके रहे। शील से उसे देखा ही नहीं। देखा भी तो कर्मेन्द्रियों को संयम में रखा। प्रेर वहाँ तक गये ही नहीं, हाथों ने उसे उठाया ही नहीं। तो तुम विषयों का उपभोग न कर सकोगे। इसलिये सर्वप्रथम वापु इन्द्रियों का संयम करके इस कामरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करो। यह शत्रु बड़ा अनर्थ करता है।

अर्जुन ने पूछा—“प्रभो ! यह काम क्या अनर्थ करता है ?”

भगवान् ने कहा—“यह ज्ञान को नष्ट कर, देता है, अज्ञानी बना देता है। विज्ञान को भी नाश कर देता है ?”

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या ?

भगवान् ने कहा—प्राचार्यगण जो हमें उपदेश करते हैं ऐसा आचरण करना चाहिये। ऐसा न करना चाहिये। शास्त्र जो विधि विनियम का विधान करते हैं इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—फिर विज्ञान क्या हुआ ?

भगवान् ने कहा—यह और शास्त्र ज्ञान का जो फल है, उसे ही विज्ञान या अत्रोक्ष ज्ञान कहते हैं यह विज्ञान ही निःश्रेयस्-मुक्ति-का हेतु है। इसलिये यह काम बड़ा पापी है। अनर्थ की जड़ यही महात् शत्रु है। इन्द्रियों पर विजय पालोगे तो मन और बुद्धि पर भी तुम्हारी विजय हो जायगी।

अर्जुन ने पूछा—“इन्द्रियों पर विजय होने पर मन बुद्धि पर विजय कैसे हो जायगी ?”

भगवान् ने कहा—“धरे, भाई, मन और बुद्धि जो तो इन्द्रियों ही हैं। अन्तर इतना ही है, श्रोत्र, रसक, चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ-बाह्य के करण हैं और मन बुद्धि आदि भीतर की इन्द्रियाँ-अन्तःकरण हैं। केवल सूक्ष्मता का ही अन्तर है।

अर्जुन ने पूछा—सूक्ष्मता का क्या अन्तर है, भगवन् !”

भगवान् ने कहा—“देखो, पंडितगण तथा ऋषि मुनियों ने एक क्रम बना रखा है, उनका कथन है कि बाह्यविषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा मन परे हैं। मन से परे बुद्धि है। और बुद्धि से परे वह आत्मा (परमात्मा) है, उससे श्रेष्ठ उससे परे कोई भी नहीं। मुमुक्षु का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्त हो है। वह सभी सम्भव है, जब इन्द्रियों के द्वारा इस परम शत्रु काम पर किसी प्रकार विजय हो जाय।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो। इस प्रकार भगवान् ने परतत्त्व का उपदेश कर दिया। अब इसका जो फल होगा उसका वर्णन करके भगवान् इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। उसे आपसे मैं ब्याने कहूँगा।

छप्पय

विषयनि तै है श्रेष्ठ सकल इन्द्रिय समुदाया ।
इन्द्रिनि तै मन प्रबल यही ईश्वर की माया ॥
मन तै हैं हे श्रेष्ठ सुख यह बुद्धि विचारी ।
बुद्धि भट है जाय चात सब देह विगारी ॥
बुद्धि तख तै परे जो, आतमा ताकू मानियो ।
विषय करन मन चरा करो, शुद्ध बुद्धि तै जानियो ॥



काम शत्रु को मारने का अन्तिम उपाय

[२२]

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ॐ॥

(श्री भग० गी० ३ अ०, ४३ श्लो०)

छप्पय

शत्रु काम है प्रबल युक्ति तै वश में होवै ।
विषयनि तें मन रोकि बुद्धि तें ताहि संजोवै ॥
भई बुद्धि वश फेरि काम का करे विचारो ।
मन यदि वश है जाय शत्रु हूँ तुरत पछारो ॥
बुद्धितत्व तें परे जो, आत्मा सूक्ष्म महाप्रबल ।
वश में होवै काम-अरि, होहि चाहि जैसो सबल ॥

निरुद्ध काम होना ही मुक्ति का मार्ग है, कामना ही संसार बन्धन का कारण है । हिरण्यकशिपु को मारकर जब भगवान् प्रह्लाद जी की स्तुति से प्रसन्न हुए तब भगवान् नृसिंह ने उनसे कोई घर मांगने को कहा ।

* इस प्रकार हे महाबाहो ! बुद्धि से परे (परमात्मा) को जानकर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके इस काम रूप दुर्जय शत्रु को मार डालो ॥४३॥

प्रह्लाद जो ने कहा—“प्रभो ! जब आपके साक्षात् दर्शन हो गये, तब और वर क्या माँगू ?

भगवान् ने हठ की ओर कहा—“नहीं, तुम्हारी इच्छा न हो, तो भी मेरी प्रसन्नता के निमित्त तुम मुझसे कुछ वर अवश्य माँग ली। इस से मुझे प्रसन्नता होगी। तुम्हारी जो भी कामना हो, वही वर माँग लो।”

प्रह्लाद जो ने कहा—“प्रभो ! आप नहीं ही मानते हैं और वर माँगने का हठ ही करते हैं, तो मैं यही वर माँगता हूँ, कि मेरे मन में कोई काम की वासना ही न उठे। मेरी समस्त कामनाओं का जड़ मूल से नाश हो जाय।”

यही भागवत धर्म में दीक्षित पुरुषों की सच्ची अभिलाषा है, मनुष्य को चौरासी के चक्कर में डालने वाली ये भ्रांति-भ्रांति की कामनायें ही हैं। संसार में सबसे बड़ा शत्रु यह ‘काम’ ही है। भोगों की इच्छा-विषय वासनाओं की कामना-भोगों में स्पृहा-यही संसार बन्धन को दृढ़ करने वाली हैं।

भगवत् कृपा से गुरु और वास्तवोपदेष्ट मार्ग से इस काम रूप शत्रु पर विजय हो जाय तभी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जायगा।

काम जब मन में आता है, तो सबसे पहिले अन्तःकरण की शान्ति को ही नष्ट करता है। इस सम्बन्ध की धार्मिक ग्रन्थों में बनेक कथाएँ हैं। रेवव मुनि की हँसों द्वारा प्रशंसा सुनकर राजा जानश्रुति उनके पास ब्रह्मज्ञान का उपदेश लेने गया। मुनि को उन्होंने भ्रांति-भ्रांति के घन रत्न देने चाहे। मुनि ने यही कहा—“राजवृ ! ये वस्तुएँ तो उन्हें देनी चाहिये जिन्हें संसारी भोगों की कामना हो, इन वस्तुओं से ब्रह्मज्ञान नहीं खरीदा जा सकता। दुःख तथा अशान्ति का कारण ‘काम’ ही है।”

एक कोई-महात्मा थे, उनके मन में एक फल के खाने की कामना हुई। फल तोड़ कर खाया, वह खट्टा था, उनकी कामना और बढ़ी। मार्ग में एक दूसरे महात्मा साधारण वेप में पड़े थे, उनके शरीर पर मक्खियाँ भिनक रही थीं मच्छर उन्हें काट रहे थे।

उन महात्मा को देख कर इन मैले कुत्ते महात्मा ने कहा—
“बाइये, भगवन् ! अच्छे आये। कहिये फल खट्टा निकला न ?
मीठे फल खाने की कामना है ?”

इन महात्मा ने आश्चर्य व्यक्त होकर पूछा—“स्वामिन् !
आपको कैसे पता कि मेरी अमुक फल खाने की कामना है ?”

महात्मा ने कहा—“यह भी कोई बड़ी बात है क्या ? मन
तुम्हारे शरीर में रहे या मेरे में। मन तो एक ही है। जिसे
भगवत् साक्षात्कार हो गया है। उसे किसी के भी मन की बात
जानने में कठिनायी नहीं होती।”

उन महात्मा ने कहा—“महात्मन् ! आप भगवत् साक्षात्
कार करने वाले सिद्ध सन्त हैं, तो भगवान् से कह क्यों नहीं
देते, ये मक्खी मच्छर आपको इतना कष्ट दे रहे हैं, इन्हें भगवान्
आपके शरीर से हटा दें।”

तब उन महात्मा ने कहा—“ब्रह्मन् ! ये मक्खी मच्छर उतना
कष्ट नहीं दे रहे हैं, जितना कष्ट आपको अमुक फल खाने की
कामना दे रही है। शरीर तो अनित्य है नाशवान् है इसे कोई
कष्ट क्या देगा। सबसे बड़ा कष्ट देने वाला तो महान् शत्रु यह
काम ही है। जिसने कठिनाता से जीते जाने वाले इस शत्रु पर
विजय पा ली है, उसे बाहरी व्यक्ति कोई कष्ट नहीं पहुँचा
सकता। अतः सबसे पहिले आपने ही शरीर में रहने वाले इस
काम को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।”

सूतजी कहते हैं—“मुनियो ! जब भगवान् ने बुद्धि से परे परमात्म तत्त्व को बताया, अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो ! यह काम तो बीच में पड़ा ही रहेगा । हम इन्द्रियों का संयम भी कर लें, किन्तु मन में काम वासना वनी ही रहे, तो परमात्म तत्त्व की प्राप्ति तो हो नहीं सकती, क्योंकि यह पापी काम तो ज्ञान विज्ञान का विनाशक ही है ।

भगवान् ने कहा—“केवल इन्द्रियों के ही रोकने से काम थोड़े ही चलेगा । मैंने तो क्रम बताया, कि जैसा ऊपर चढ़ने से सब प्रथम पहिली सीढ़ी पर पैर रखना होगा, फिर क्रम-क्रम से सब सीढ़ियों को चढ़ते हुये भट ऊपर पहुँच जायेंगे । पहिली सीढ़ी पर बिना पैर रखे आप कैसे ऊपर चढ़ सकते हैं ? इसलिए सबसे प्रथम तुम बाणी आदि इन्द्रियों का संयम करो । फिर मन का संयम करो मद्-असत् के निश्चय करने वाली बुद्धि द्वारा इस काम रूपी शत्रु को मार डालो ।

अर्जुन ने पूछा—“क्या भगवान् बुद्धि से ही जाने जा सकते हैं, क्योंकि वे बुद्धि से परे हैं ।

भगवान् ने कहा—“मैं तो बाणी, मन तथा बुद्धि का विषय नहीं हूँ, फिर भी बुद्धि मुझे मेरे समीप तक पहुँचा देती है । जैसे कोई व्यक्ति मन्दिर में जाकर भगवान् की अर्चा विग्रह-मूर्ति-के दर्शन करना चाहता है तो रथ के द्वारा वह दर्शन करने जा सकता है, किन्तु रथ उसे मन्दिर के जगमोहन तक तो ले जा नहीं सकता, क्योंकि जगमोहन के भीतर जाने का उसे अधिकार ही नहीं । रथ तो केवल तुम्हें मन्दिर के द्वार पर ले जाकर बाहर पहुँचा देगा । वहाँ से रथ से उतर कर स्वयं ही तुम्हें मन्दिर की मूर्ति तक पैदल जाना पड़ेगा । दर्शनों में जो शत्रुबाधक हो, तुम्हें वहाँ तक जाने में विघ्न

उपस्थित करते हों उन पर विजय प्राप्त करके ही आप मूर्ति तक पहुँच सकेंगे। जो बिष्णु का परम पद है वहाँ तक आपको पारोप रूपी रथ जिसमें इन्द्रियाँ रूपी घोड़े जुते हुये हैं बुद्धि रूपी सारथी पहुँचा सकता है द्वार पर काम रूपी दुरासद शत्रु काम खड़ा है। उसे निरवयात्मिका बुद्धि द्वारा मारकर परम-पद-मोक्ष के समीप पहुँच जाओगे। विना शत्रु को मारे आप पर तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

सुतजी कहते हैं—“मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भगवद् गीता के तीसरे अध्याय में निष्काम कर्म की उपादेयता का वर्णन किया है। अब बलुयें अध्याय में जैसे ब्रह्मापराध योग का वर्णन करेंगे, उस कथा को मैं आप से आगे कहूँगा।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धियो नमोः ब्रह्मविद्यायां
योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

छप्पय

भगवद् गीता माहिं तृतीय अध्याय मनोहर ।
वर्नन प्रभु ने करथो सुखद अति करम योग वर ॥
सुख दुख लाभ अलाभ पराजय जय सम करिके ॥
सकल कामना त्यागि लड़ी निष्कामी बनिके ॥
काम रात्रु कै मारि के, करम योग करि वनो मुनि ।
यह प्रकरन पूरन भयो, ब्रह्मापराध को सरन सुनि ॥

